मध्यान्तर
प्रीति अज्ञात

मध्यांतर
(कविता-संग्रह)

मध्यांतर

प्रीति अज्ञात

हिन्द युग्म
hindyugm.com

ISBN: 978-93-84419-54-7

प्रकाशक:
हिंद-युग्म
1, जिया सराय, हौज खास, नई दिल्ली–110016
मो.– 9873734046, 9968755908

आवरण–चित्र: प्रीति अज्ञात
कला–निर्देशन: विजेंद्र एस विज

पहला संस्करण: 2016

© प्रीति अज्ञात

Madhyantar
(A collection of poems by Preeti Agyaat)

Published By
Hind Yugm
1, Jia Sarai, Hauz Khas, New Delhi-110016
Mob: 9873734046, 9968755908
Email: sampadak@hindyugm.com
Website: www.hindyugm.com

First Edition: 2016

हृदय से आभार मेरे माता-पिता, भाई, पति व दोनों बच्चों का
...उनके प्रेरणा, प्रोत्साहन, आर्थिक संबल और अपार स्नेह का

कुछ स्मृतियाँ, कुछ मुस्कानें, कुछ स्नेह में डूबे भीगे क़िस्से
कुछ साथी साथ चले, कुछ छोड़ गए प्रश्नचिह्न मेरे हिस्से
हार्दिक आभार उन क्षणों का, जब मुस्कान को डिगने न दिया
हे, पीड़ा! धन्यवाद तेरा भी, हौसला बन मृत्यु से मिलने न दिया
कुछ सवाल समाज से, कुछ क्षुब्धता, कुछ आपबीती ही रही
समर्पित ‘समय’ तुम्हें, ये ज़िंदगी अब तलक, जैसी भी रही

प्रतिभावान और समर्थ कवयित्री का स्वागत

पुस्तक की पहली ही कविता में प्रीति 'अज्ञात' अपनी सशक्त रचनाओं का एक गहरा हस्ताक्षर छोड़ जाती हैं। इनको पढ़ना एक संपूर्ण कवयित्री को पढ़ने जैसा है, जिसमें गहरी संवेदना है और जो समाज और धर्म को लेकर बदलती परिस्थितियों से अत्यंत व्यथित और चिंतित है। इस पुस्तक में इन्होंने जीवन के हर पहलू को अत्यंत नाज़ुक तरीक़े और संवेदनशीलता के साथ अनुभव कर उसे जीवंत कर दिया है। कविताएँ ऐसी रची गई हैं मानो दृश्य सामने ही चल रहा हो।

'कवि' पर लिखी प्रथम रचना की ईमानदार अभिव्यक्ति भीतर तक झकझोर के रख देती है।

"टूटेगा सब्र का बाँध / खिंचेगी हर शिरा-धमनी / छटपटायेंगी वर्षों से ज़ब्त / आलसी माँस-पेशियाँ भी / भींचोगे मुट्ठी अपनी / फेंक आओगे उठाकर / दुनिया के सारे बेहूदा नियम-कानून / भरेगा साहस रगों में / न होगा मृत्यु-भय कहीं / एन उसी वक़्त / चीखते हुए बाहर आएगा / तुम्हारे अंदर का कवि"

प्रीति की कविताओं को पढ़ना एक संपूर्ण जीवन को जीते हुए देखने जैसा है। इनकी रचनाओं का सर्वाधिक सुखद पक्ष इनका मानवीय सरोकार से जुड़ा होना है। ये व्यक्तिगत न होकर समाज में परिवर्तन का आह्वान करती हैं, इन्हें पढ़ते हुए मन चिंतन को विवश हो उठता है और एक सकारात्मक समाज में जीने की उम्मीद कर बैठता है। इनमें बदलते सामाजिक मूल्यों और परिस्थितियों के प्रति आक्रोश भी है, लेकिन ये हताश होकर हारने के बजाय उससे जूझना अधिक सार्थक समझती हैं। यही एक कवि का कर्त्तव्य भी है और उद्देश्य भी।

'कौन हूँ मैं' एक ऐसी रचना है जिसे आत्मसात कर लिया जाए तो समाज में परिवर्तन स्वतः ही दृष्टिगोचर होने लगेगा। इससे बेहतर उदाहरण और क्या होगा कि ये अपने नाम के आगे 'अज्ञात' भी इसीलिए लिखती हैं। धर्म के नाम से हो रहे दंगे-फ़साद की आग में, ये धर्म को दूर हटने की सलाह देती हैं कि देश में शांति का वातावरण बना रहे, समाज के प्रति इनका सरोकार यहाँ ईश्वर को उलाहना देने से भी नहीं चूकता। 'सुनो, भगवान' इसी श्रेणी की एक उत्कृष्ट कविता है। जो हृदय में गहरी छाप छोड़ जाती है।

वहीं धर्म और राजनीति पर प्रहार करती 'धर्म' भी ख़ासी उल्लेखनीय बन पड़ी है, आम जनता को सचेत करते हुए इनका द्रवित हृदय कह उठता है-

"धर्म एक सुनहरा पासा है / जनता की आँख में झाँसा है
वोटों में बटोरी भीख यही / उम्मीद की हारी चीख यही
चौपड़ पे उछलती गोटी है / आहों से सुलगती रोटी है"

सामाजिक मूल्यों के पतन, स्त्रियों पर हो रहे अत्याचार और उनको भुनाने में चैनलों की आपाधापी पर रची कविता 'भीड़' अत्यंत मार्मिक बन पड़ी है। व्यर्थ के मुद्दों की चर्चा के स्थान पर वो हुंकार भरते हुए कहती हैं-

"सीमा पर अटके जवान पर चर्चा हो / पेड़ों से लटके किसान पर चर्चा हो भूखे के सूखे थाल पर चर्चा हो / पाखंड के फैले जाल पर चर्चा हो न गीता, न बाइबल, न कुरआन पर चर्चा हो / ज़रूरत बस इतनी हिंदुस्तान पर चर्चा हो"

अथाह पीड़ा से लबरेज़ 'मृत्यु' कविता अंत तक जीने की ज़िद नहीं छोड़ती और आत्महत्या का विचार करने वाले लोगों के सामने एक प्रश्नचिह्न थमा उसे मौन कर जाती है-

"मृत्यु / चंद साँसों का उकताकर / साथ छोड़ देना भर नहीं / और न ही है ये / किसी अजर, अमर आत्मा का / तफ़रीह के लिए / अनायास चले जाना"

इसी कविता को विस्तार देते हुए वे समाज के कमज़ोर पक्ष की पैरवी करते हुए, जीवन से हारने वाले धनाढ्य वर्ग में जीवन की जिजीविषा भरते हुए पूछती हैं

"कि ये किससे शिकायत करते हैं? / कहाँ माथा पटकते हैं? / किस पर दोष मढ़ते हैं? / आख़िर ये सब हारकर क्यों नहीं मरते हैं?"

स्त्री-विमर्श पर लिखी गई इनकी सभी रचनाएँ व्यर्थ के आडंबरों से परे हो, बिना किसी भय के समाज की सच्चाई जस-की-तस रख देती हैं। ये लिखती हैं-

"तुम माँ के हृदय में उपजी / एक मासूम अकुलाहट हो / क़र्ज़ के डर से कँपकँपाते / ग़रीब पिता की / धौंकनी-सी चलती / विवश, लाचार छटपटाहट हो"

पर इसके साथ ही ये आशा का दामन थामे हुए यह भी कहती हैं- "मेरे लिए तुम सुंदर सृष्टि / बदलते समय की सबसे आवश्यक आहट हो!" यह आश्वस्ति अत्यंत प्रेरणादायी है।

'सच या झूठ' समाज में फैली विसंगतियों और न्याय-व्यवस्था पर अचूक प्रहार करती है-

"सबका अपना-अपना सच/ झूठ, ख़ुद को बचाती, मज़बूर तबाही / सच, एक निर्दोष का सज़ा पाना / झूठ, चंद पैसों में बिकी गवाही / 'झूठ', सच की अनचाही 'सौत' / 'सच' एक जवान लड़की का / तथाकथित प्रेमी द्वारा अपहरण / 'झूठ' अख़बार में छपी / 'एक गुमशुदा की मौत"'

'एक बोरी आँसू' हृदय की अथाह पीड़ा और निराशा में भर आम इंसान की ज़िंदगी का एक उदास पृष्ठ थमा देती है, जब वे लिखती हैं- "जाने क्यूँ /समाज की खूँटियों पे लटके / मुर्दा संस्कार / कभी दफ़न ही नहीं होते"

बस्तियाँ, जीते जी न जान सके, सिर्फ़ इतना ही, सेलिब्रिटी समाज के ढोंग को उजागर करती हुई उम्दा रचनाएँ हैं। 'माँ कहती थीं', 'उम्र के चार दशक', 'पढ़ना चाहोगे'

और ऐसी ही कई अन्य कविताएँ स्त्री मन को पूरी तरह उधेड़कर रख देती हैं।

'मध्यांतर' इस पुस्तक के शीर्षक को सार्थक करती हुई कविता है जहाँ कवयित्री स्मृतियों में खोई हुई, अतीत की सुंदरता अब तक संजोए है। यादों से संबंधित अन्य रचनाएँ भी प्रभावी बन पड़ी हैं। एक उद्धरण देखिये- मन के गलियारों में / ताजा अख़बार बन / छन्न-सी गिरती है / एक हँसी / अरे, आ न यार / चल, बहुत पढ़ ली / अहा, कितनी आत्मीयता / कैसी ऊर्जा समाहित थी / इन शब्दों में / कितनी अपनी थी तब दुनिया

एक अन्य हृदयस्पर्शी रचना में-

"दिल की दीवारों पे कहीं सीलन-सी जमी / दर्द दिखता नहीं जाने कहाँ बह जाता है"

'मध्यांतर' में प्रेमपगी रचनाएँ कम हैं पर जितनी भी हैं उनको पढ़ बेहद सुकून मिलता है। उन्हें इतने स्नेह और भावुकता में डूबकर लिखा गया है कि जैसे एक-एक पल जस-का-तस जी लिया गया हो। 'मिलना तो मेरा तय ही है तुमसे' मिलन की अपार संभावनाओं को संजोती हुई कोमल कविता है। एक पंक्ति देखें-"क्यूँ न बनूँ मैं 'सूरजमुखी' / जो खिल जाए, रोज़ ही तुम्हें देखकर"

'कुछ तो है कहीं' इसी प्रेम की मासूम अभिव्यक्ति है। जहाँ कवयित्री कहती है- "तू ही सुकून, है ख़्वाहिश, चैनो-अमन मेरा/ मेरी हर नब्ज़ को समझता, चारागार-सा है"

शायद ही कोई ऐसा विषय हो जो कवयित्री के भावुक मन से अछूता रह गया हो। सामाजिक, मानवीय मूल्यों पर लिखी गई कई रचनाओं के साथ यहाँ स्त्री, परिवार और रिश्तों की सुंदर विवेचना की गई है, आम मनुष्य की तरह निराशा के भाव हैं, कहीं छटपटाहट, कहीं आक्रोश तो कहीं जीतकर बाहर आने का हौसला भी। चिंतन और पीड़ा के भाव भी रचनाओं में समान रूप से दर्शित होते हैं।

संवेदनशीलता और मृदुता के भाव लिए प्रीति एक साहसिक कवयित्री भी हैं। आडंबरों से रहित इनकी कविताओं की सच्चाई और बेबाकपन इन्हें श्लाघनीय बनाता है और ये पाठकों के हृदय को उद्वेलित कर पाने में भी सफल हुई हैं। आज हमें ऐसे ही रचनाकारों की आवश्यकता है।

जैसाकि इन्होंने आख़िरी कविता में लिखा है कि 'संघर्ष, अभी जारी है', तो मैं इन्हें इस जीवन संघर्ष में विजयी होने के लिए अपार शुभकामनाएँ देता हूँ तथा साहित्य-जगत से इस नई प्रतिभावान और समर्थ कवयित्री के स्वागत के लिए आह्वान करता हूँ। आप साहित्य जगत को एक उजला सूरज बनकर सदैव प्रकाशमान करती रहें। आपके आगामी संकलन की अब प्रतीक्षा रहेगी।

-लक्ष्मी शंकर बाजपेई

अपनी बात

शब्द ही शब्द मंडराते हैं हर तरफ, सहेजना चाहती हूँ उन्हें, गागर में सागर की तरह। समय की धूल कभी आँखों में किरकिरी बन नमी ला देती है, तो कभी इन रजकणों को एक ही झटके में झाड़ त्वरित खड़ा हो उठता है मन। जरा-सी प्रसन्नता मिली नहीं कि बावलों-सा मीलों दूर नंगे पाँव दौड़ने लगता है। रेत में फूलों की ख़ुशबू ढूँढ लेता है। घनघोर अंधकार में भी स्मृतियों की मोमबत्तियाँ जला चाँदनी रात-सी उजास भर देता है। पर उदासी में अपने ही खोदे कुँए में नीचे गहराई तक उतर जाता है, बीता हर दर्द टटोलता है, सहलाता है, भयभीत हो चीखता-चिल्लाता है। पुकार बाहरी द्वारों से टकराकर और भी भीषण ध्वनि के साथ वापिस आ मुँह चिढ़ाने लगती है। दोनों हाथों को कानों से चिपकाकर, चढ़ने की कोशिश आसान नहीं होती। घिसटना किसे मंज़ूर है भला! चाहे हिरणी-सी मीलों दूर की दौड़ हो या ज़मीन के भीतर तक धँसी दुःख की खाई, दोनों ही स्थानों से लौटना आसान नहीं होता। पर फिर भी, ज़िम्मेदारियों की रस्सी गले में फंदा बाँध ऊपर खींच ही लेती है। एक गहरी ख़राश, कुछ पलों का मौन, चीखता सन्नाटा और पराजित प्रयासों की स्तब्धता समेटे, खिसियाता मुँह लिए लौट आता है तन, पुरानी दिनचर्या में पुनर्जीवित होने के लिए। ठीक तभी मैं, स्वयं को भावों को अभिव्यक्त करने की कोशिशों में जुटा पाती हूँ। मैं की-बोर्ड को अपना सबसे क़रीबी मित्र मान, अपनी हर बात उसके कानों में डाल थोड़ा मुक्त-सा महसूस करने लगती हूँ।

लेखन मेरी प्राणवायु है, ये कभी समाज की कुरीतियों, विसंगतियों और अपराधों के प्रति फूटती झुंझलाहट है तो कभी धर्मजाल के खेल में उलझते लोगों के लिए कुछ न कर पाने की बेबसी। ये घुटन को दूर करने की व्याकुलता है और नम आँखों पर हँसी बिखेर देने की ज़िद भी। कभी ये छोटे-छोटे पलों को जीने का अहसास बन एक मासूम बच्चे-सा मेरे काँधे पर झूलता हुआ बचपन है तो कभी ख़ुशियों को काग़ज़ पर समेट देने की असीम उत्कंठा। पर इन सबके पीछे ‘परिवर्तन’ की एक आस आज भी कहीं जीवित है। लेखन मेरे लिए आत्म-संतुष्टि से कहीं ज़्यादा ‘प्रयास’ है कि समाज में एक सकारात्मक और आशावादी सोच उत्पन्न कर सकूँ। हाँ, शब्दों से क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की उम्मीद तो नहीं पर फिर भी लिखकर एक प्रयास की संतुष्टि अवश्य पा लेती हूँ।

मेरा शब्दकोष इतना समृद्ध नहीं, परंतु अब तक जो भी लिखा, जितना भी लिखा; पूरी ईमानदारी से लिखा। जब भी कहीं, कभी, किसी अहसास को जिया, भाव उपजते रहे और संवेदना शब्दों में बिखरती रही। स्वप्न, यथार्थ, जीवन, प्रेम, सुख, दुख, मिलन, विरह, आशा, निराशा, विश्वास, धोखा; हम सभी इन राहों से होकर गुज़रते हैं। समाज में रहते हुए, हमें इससे कितनी ही शिकायतें हैं। कितनी बातों पर मुट्ठियाँ भिंचती हैं और कितनी ही बार मन मसोसकर रह जाना पड़ता है। लाचारी, विवशता, मजबूरियाँ जीवन से लता की तरह लिपट गई हों जैसे और फिर भी जीते चले जाना है। उल्लास के पलों की भी कमी नहीं, पर न जाने क्यों हम दु:ख ओढ़ लेते हैं। कभी अपने, कभी दूसरों के। अंतर है तो इतना ही, कि कोई कह गया और किसी पर गुज़रती रही। अंततः सोच की उड़ानें भी तो 'जी' लेना ही है।

जीवन के 'मध्यांतर' में प्रतीक्षारत, मेरे शब्दों की प्रथम एकल उड़ान कहाँ तक जाती है, इसका निर्णय अब आप सुधीजनों के कर-कमलों में है। जो भी होगा, विनम्रता से स्वीकार है मुझे।

स्नेहाकांक्षी-

प्रीति 'अज्ञात'

कविता-क्रम

कवि
एक बोरी आँसू
कौन हूँ ‘मैं’
निरर्थक है
सच या झूठ
सेलिब्रिटी
थोड़ा-थोड़ा
क्या है, ऐसी दुनिया कहीं
अतुकांत कविता
बस्तियाँ
वो दुनिया
जीते-जी न जान सके
एक टुकड़ा ज़िंदगी
भीड़
परजीवी
सिर्फ़ इतना ही
सुनो, भगवान
मेरी नन्ही-सी दुनिया
ज़िंदा हूँ मैं
क्या किया तुमने
माँ कहती थीं
ज़िंदगी
तुम, पूछना अवश्य
तुम स्त्री हो
सफ़र

प्रतिध्वनि
उम्मीद का सूरज
रेगिस्तान
बुरबक
सीता का संघर्ष
स्वप्न या...
स्त्री
रिश्तों के समीकरण
मौन
सुबह हुई है अभी
अविजित
वक़्त के साथ-साथ
उलझनें
अलविदा
बचपन की यादें
मध्यांतर
वक़्त हँसता रहा
यादों के लेटर-बॉक्स में
मुस्कुराहटें बाक़ी हैं अभी
उम्र के चार दशक
पढ़ना चाहोगे
उम्मीदों का पैराशूट
कौवे
स्त्री- तुम यूँ भी हो कहीं
आश्चर्य में हो तुम
रहता है
कुछ तो है कहीं
इंसानियत का
ये कौन है
अंत तक
आज फिर
मुश्किल है
हर दिन
कुछ तो
मिलना तो मेरा तय ही है तुमसे
मेरे वो ख़त
पूरा फ़िल्मी है
मेरी दुनिया

आख़िरी ख़त
स्त्री-विमर्श
देखा है
एक शहर
अनुपम पल
शब्द-सेतु
मैं कहीं हूँ ही नहीं
छटपटाहट
मृत्यु
धर्म
और कुछ नहीं
अब डर नहीं लगता
कोई एक दिन
युद्ध
मैं और तुम
चर्चा हो
प्रमाणपत्र
अकवि
टुकड़ा-टुकड़ा तथ्य
अजी, थोड़ा तो जी लीजिए
अभी जारी है

कवि

दिल के दो टुकड़े होते ही
नहीं फूटने लगती
शब्दों की अविरल धारा
और न ही प्रेम के दो छंद
लिखते ही बन सका कवि कोई
जियो एक कायरों-सी ज़िंदगी चुपचाप
मत करो प्रतिशोध किसी बात का
घुटते रहो भीतर तक
समेटो अंतर्मन में हर पीड़ा

जीवन के सुंदर स्वप्न को
तार-तार कर
भिगो डालो
पकते अहसासों की क़लम से
पुरानी डायरी के
चुनिंदा वाहियात पन्ने
फिर रोते हुए छुपा लो उन्हें
दुनिया की नज़र से
हाय! चोट न पहुँचे
किसी के हृदय को

थक जाओगे जिस दिन
सबको सँभालते हुए
उतार फेंकोगे 'महात्मा' का चोला
खिसिया जाओगे अपनी ही
निरर्थक परिभाषाओं से
चीखोगे-चिल्लाओगे
कहीं कोने में दुबककर
थोड़े आँसू भी बहाओगे
ठीक तब ही अचानक

टूटेगा सब्र का बाँध
खिंचेगी हर शिरा-धमनी
छटपटायेंगी वर्षों से ज़ब्त
आलसी माँसपेशियाँ भीं
भींचोगे मुट्ठी अपनी
फेंक आओगे उठाकर
दुनिया के सारे बेहूदा
नियम-कानून
भरेगा साहस रगों में
न होगा मृत्यु-भय कहीं
ऐन उसी वक़्त
चीखते हुए बाहर आएगा
तुम्हारे अंदर का कवि।

एक बोरी आँसू

समय की चारपाई में
कसकर बँधी साँसें
जूझती प्रतिदिन
विचारों की
रस्साकशी से
जाने क्यूँ
समाज की खूँटियों पे
लटके मुर्दा संस्कार
कभी दफ़न ही नहीं होते
हर खुरदुरी मार पर
कराहता एक स्वप्न
करवट बदलकर
रोता हुआ पलट लेता
आशाओं का बेतुका सिरहाना
रेशमी स्वप्न, टाट की बोरी
रास क्यूँकर आते भला
खुरच जाता
भावनाओं का नाज़ुक तन
बिछौने का पैना प्रहार
सहते हुए

उम्मीदों के छप्पर से
औंधे मुँह गिरती
एक उदास बूँद
मिलकर माटी में
शूल-सा रेत देती
कोशिशों का गला
घिसटते भाग्य की
टूटी चप्पलों के साथ
सूखा, पपड़ाता मन

इच्छाओं के शुष्क होंठों पर
फेरकर जीभ
निर्मम हो
ख़ुद ही गटक लेता
महत्वाकांक्षा की निबौली

मौन अभिलाषा
टीस बन कोसती
लकड़ी की चारदीवारी को
बँधे खूँटे से उठकर
लँगड़ाते, लड़खड़ाते
कोशिशों के पाँव
ढूँढ़ते हैं सहारा
खोलने को बंद खिड़कियाँ
उलझी, कमज़ोर, जिबरियों में
जाने कितनी गाँठें
टूट जाते, दुखते
कितने हिस्से
आह! इसे बुनने में
कितनी दफ़ा भीगा होगा
बुनकर का मन

गिरकर, छूट जाता
इक छोर
बार-बार, लगातार
और अचानक धूप-छाँव के
अंतहीन खेल से
तंग आकर
चरमराती
जीवन की चारपाई
तभी सहारा देने को
रेंग आता
ज़िम्मेदारियों की झोली से
सरक, मजबूरी का अंतिम ठीकरा

चीखता इंसान
पीटता सर

क़िस्मत की निष्ठुर
मज़बूत दीवारों पर
लहूलुहान हो हँसता
स्वप्नों की सुतलियों से
कसकर बाँध देता
वही एक बोरी आँसू
कि मन की दरारों से
रिसते रहें सारे ज़ख़्म
न वक़्त, न दुआ
नामंज़ूर अब, हर मरहम।

कौन हूँ 'मैं'

मैं कौन हूँ?
मेरा उठना-बैठना
खाना-पीना, रहन-सहन
बातचीत का तरीक़ा
स्वभाव, शिक्षण, व्यवसाय
विवाह की उम्र
शिष्टाचार, जीवन-शैली
यहाँ तक कि
मौत के बाद की
विधि भी
सब कुछ तय है
मेरे जन्म के समय से

पैदा होते ही तो लग जाता है
ठप्पा उपनाम का
जुड़ जाता है धर्म
अब नाम के साथ ही
और उसी पल हो जाती है
सारी राष्ट्रीयता एक तरफ़
आस्था हो, न हो
विश्वास हो, न हो
पर समाज इंसान को जाने बिना ही
निर्धारित कर लेता है
उसके गुण-अवगुण
चस्पा कर दी जाती हैं धर्मानुसार
किसी भी अंजान व्यक्तित्व पर
कुछ सुनिश्चित मान्यताएँ

सीमाएँ लाँघने पर उठा करती हैं
एक साथ कई निगाहें

फिर समवेत स्वर में उसे
नास्तिक क़रार कर दिया जाता है
उन्हीं लोगों के द्वारा
जिन्होंने संकुचित कर रखी है
अपनी विचारधारा

अपने धर्म की परिधि के भीतर ही
बुहारा करते हैं ये, नित 'अपना' आँगन
सँवारते हैं उसे
गीत गाते हैं मात्र उसी के हरदम
धर्म-विधान के नाम पर
हो-हल्ला मचाते
तथाकथित संस्कारी लोग
रख देते हैं अपनी भारतीयता
ऐसे मौक़ों पर, दूर कहीं कोने में

राष्ट्रहित की बातें करने वालों ने
बो दिया है बीज
तुम्हें ख़ुद ही तोड़ने का
और हो गये हैं सभी सिर्फ़
अपने-अपने धर्म के अधीन
तो फिर स्वतंत्र कौन है?
मैं कौन हूँ?
तुम कौन हो?
जो वाक़ई चाहते हो स्वतंत्रता
तो तोड़ना होगा सबसे पहले
धर्म और प्रांत का बंधन

ईश्वर एक ही है
मौजूद है, हर शहर, हर गली
हर चेहरे में
हटा दो मुखौटा
और देखो
एक ही ख़ुशबू है
हर प्रदेश की मिट्टी की
हरेक घर का गुलाब
एक-सा ही महकता है

महसूस करना ही होगा
हमें ये अपनापन
तभी पा सकेंगे
दंगे-फ़साद, आगज़नी-तोड़फोड़
सारी अराजकताओं से दूर
हमारा अपना
एक स्वतंत्र भारत।

निरर्थक है

निरर्थक है प्रमाणित सत्य को
अस्वीकारते हुए
करवट बदल सो जाना
निरर्थक है भावों को
शब्दों की माला पहनाते
आशंकित मन का
मध्य मार्ग ही
उनका गला घोंट देना
निरर्थक है बार-बार धिक्कारे हुए
शख़्स का
उसी चौखट पर मिन्नतें करना
निरर्थक है फेरी हुई आँखों से
स्नेह की उम्मीद
निरर्थक है बीच राह पलटकर
प्रारंभ को फिर पा लेना
हाँ, सचमुच निरर्थक ही है
हृदय का मस्तिष्क से
अनजान बन जाने का हर आग्रह

गर समेटना हो
स्मृतियों के अवशेष
टूटते स्वप्नों के साथ
विदा ही प्रत्युत्तर हो
हर मोड़ पर खड़े चेहरों का
और समझौता ही बनता रहे
गतिमान जीवन का एकमात्र पर्याय
तो फिर सार्थक क्या?
ये जीवन भी तो
जिया यूँ ही
निरर्थक!

सच या झूठ

सच
जैसे झूठ की हज़ार खिड़कियों के बीच
बिलबिलाती, नीली पड़ी उँगली
झूठ के सौ मुँह
सच की बस एक ज़ुबाँ
झूठ, जैसे मिश्री की डली
सच का न कोई हमनवा
झूठ, कोरी अंधभक्ति
सच एक ठहरा विश्वास
सच, गंगा-सा पवित्र
झूठ, उसमें बहती लाश

सच, चमचमाती हुई किरणें
झूठ, बादलों में छुपा सूरज
सच, जैसे किसी का लहूलुहान सर
झूठ, मुस्कुराने की कोशिशों में जुटी
हारी माँस-पेशियों से जूझता
कोई नाकाम मूरख

सच, जैसे झूठ की पीठ पर लदा
एक मासूम बच्चा
अनभिज्ञ छल-कपट से
दुनिया के लिए कच्चा
आह, दुर्भाग्य!
विशालकाय झूठ के आगे
सच का क़द कितना बौना
झूठ, शो केस में सजी बार्बी-डॉल
सच, ग़रीब बच्चे का टूटा खिलौना
हाँ, झूठ के बाज़ार में यही तो
बिकता आया है

जो सामने दिखा, वही सत्य
आदमी के भीतर के आदमी को
भला कौन जान पाया है

सबका अपना-अपना सच
झूठ, ख़ुद को बचाती, मज़बूर तबाही
सच, एक निर्दोष का सज़ा पाना
झूठ, चंद पैसों में बिकी गवाही
झूठ, सच की अनचाही सौत
सच, एक जवान लड़की का
तथाकथित प्रेमी द्वारा अपहरण
झूठ, अख़बार में छपी
एक गुमशुदा की मौत।

सेलिब्रिटी

समझने लगे वे
ख़ुद को सेलिब्रिटी
बड़े हो गए
तो आप ज़रा अदब से मिलें
करें दुआ- सलाम रोज़ाना
देखें उनकी ओर
कृपादृष्टि बरसने की उम्मीद लिए

एक पल को तो लगेंगे ये
बेहद अहंकारी, कुंठित
पर लेना जायज़ा कभी
इनके आसपास मौजूदा भीड़ का
पाओगे कुछ को
रोज़ मजमा लगाने वाले
मदारी की तरह
कुछ की हालत से
पसीजेगा भी हृदय
जब देखोगे इन्हें
किसी और के आगे-पीछे
हाथ बाँधे खड़े हुए

बोरिंग पासिंग गेम की तरह
बड़े-छोटे समझने का यह भ्रम
सृष्टि में सदियों से है जारी
आगे भी रहेगा
भटकती सभ्यता और
आख़िरी मानव की
आख़िरी साँसों के
बीत जाने तक

अब ये तुम पर है
कि ज़िंदगी के शतरंज में
स्वयं को कहाँ खड़ा
करना चाहोगे
बस डूबते सूरज को
ध्यान में रखना।

थोड़ा-थोड़ा

थोड़ा-थोड़ा
कविता, गीत, गद्य
तितर-बितर अहसास
बालपन से ही
साथी पुराने
थामा मेरा हाथ
नहीं देते धोखा कभी
चुन लेती हूँ शब्द
नमक की तरह
इच्छानुसार
अपने विषय
अपनी मर्ज़ी से
समझते हैं ये सब
बख़ूबी मुझे!

फड़फड़ाता मन
उठाता सवाल
जन्मती इच्छाएँ
उम्मीदों की ठिठोली
हँसती कभी ख़ुद पर
तो कभी मायूस हो
बेबस मौन ओढ़ लेती
सच और झूठ के
अंतर्द्वंद्व में घायल
अनर्गल स्वप्न
बड़बड़ाते हुए
अपनी ही श्वासों की
ग़लतफ़हमियों से
टूट जाते हैं
हर सुबह बेआवाज़

कुछ लफ़्ज़ बिखरते
कोरे पन्नों पर
और यूँ ही
कभी मरती तो कभी
जी लेती हूँ इनमें
थोड़ा-थोड़ा।

क्या है, ऐसी दुनिया कहीं

क्या है, ऐसी दुनिया कहीं!
जहाँ
न क़िस्मत की पीर हो
न आँखों में नीर हो
न शब्दों का वार हो
न रिश्ते व्यापार हों
न कोई जीत-हार हो
न पैनी हर धार हो
न हों उदास चेहरे
न वक़्त की ये मार हो
न पैसों की चाह हो
न अंधी ये राह हो
न झूठ का ही राज हो
न अनसुनी आवाज़ हो
न भटकें अब तक़दीरें
न बदलें ये तस्वीरें
हर शख़्स हो मुस्काता
चाहे कोई भी नाम हो
आए हैं इस जहाँ में
तो वजूद हो सभी का
न खोए कोई अपना
न कोई गुमनाम हो।

अतुकांत कविता

बेतुकी इक धुन
काग़ज़ों में लिपटी उदासियाँ
गुमशुदा-से स्वप्न
लंबी इक डगर
सूना, अनजान सफ़र
कुछ शब्द अन उकेरे
बादलों में संघनित भरे
कुछ शुष्क हो, चरमराए
समय की चिलचिलाती धूप में
कुछ वाष्पित हो
ढूँढ़ा किए अपने निशाँ
उसी अंधियारे कूप में
बेबस ठिठककर रह गए
गिरते रहे लफ़्ज़ बन
कुछ बीच राह ही ढह गए

और फिर भटके रास्ते
जुड़ा कोई कहीं
उम्मीद जब थी ही नहीं
शब्द, रिक्त-स्थान, शब्द
शब्द? शब्द..??
शब्द..
क्रम टूटा, बिखरा, खो गया
बढ़ता रहा, तितर-बितर मौन
नैराश्य की ओर

लय, राग-अनुराग से विमुख
गतिहीन जीवन, अलक्षित-सी सोच
समय से परे
यादों के अनियंत्रित ताबूत में

रोज़ ही एक गहरी कील
खोदती जाती भीतर तक
स्मृतियों का गहरा कुआँ
गोते लगाती, डूबती-उतराती
कृत्रिम-मुस्कान के आवरण तले
अपने होने का भरम बनाती
हारती-टूटती ज़िंदगी
और है भी क्या
एक अतुकांत कविता के सिवा।

बस्तियाँ

श्मशान के समीप से
गुज़रते हुए कभी
सिहर जाता था तन
दृष्टिमान होते थे
वृक्षों पर झूलते
मृत शरीर
श्वेत वस्त्र धारण किये
भटकती दिव्यात्मा
उल्टे पैर चलती चुड़ैल
हू-हू करती आवाजें
भयभीत मन
कँपकँपाते क़दम
भागते थे सरपट
रोशनी की तलाश में
लौट आता था चैन
किसी अपने का चेहरा देख

परिवर्तन का दौर
या विकास की मार
कि दु:ख में छूटने लगा
अपनों का साथ
व्यस्तता की ईंट मार
सहज है निकल जाना
आत्मसम्मान का बिगुल बजा
कुचल देना
दूसरों के सम्मान को
'इन' है, इन दिनों
'बदलाव अच्छा होता है'
हम्म, होता होगा
तभी तो निडर हो

आसान है गुज़रना
पुरानी, सुनसान राहों से
पर न जाने क्यूँ
अब बस्तियाँ
भयभीत करने लगी हैं मुझे।

वो दुनिया

समय की खिड़कियों से
झाँकते हुए
अचंभित हो देखती हूँ
स्वयं को
उछलती-कूदती
रटती पहाड़े
दो एकम दोऽ
दो दूनी चाऽर
और लगता है
कितनी संगीतमय थी दुनिया

रंगबिरंगे फूलों से भरी
बगिया के बीच
उकड़ू बन बैठी
चित्रकारी करती हुई
रंग भरती, खिलखिलाती
कितनी रंगीन थी तब दुनिया

सारे गुणा-भाग, जोड़-बाकी
नाचते थे उँगलियों पर
रसायन के सम्मिश्रण में
दोनों तत्वों की पहचान हो
या डार्विन का विकासीय सिद्धांत
आसान था, सबको समझ पाना
कितनी सीधी-सरल थी तब दुनिया

मन के गलियारों में
ताजा अख़बार बन
छन्न-सी गिरती है

एक हँसी
अरे, आ न यार
चल, बहुत पढ़ ली
अहा, कितनी आत्मीयता!
कैसी ऊर्जा समाहित थी
इन शब्दों में
कितनी अपनी थी तब दुनिया

इन दिनों
छल-कपट से भरे
ईर्ष्यालु लोगों की भीड़ में
दिलों की तलहटी में बैठ
बीते सुंदर पलों की तरह
कहीं गुम हो गया है प्रेम
गले मिलते ही सताता है
छुरा घोंपने का भय
स्वार्थ और मौक़ा-परस्ती के
द्रव में घुलती हुई
खो गई है वो दुनिया
जिसे ढूँढ़ते हुए खो जाएँगे
हम सब भी यहीं-कहीं
बीत चुकी वो दुनिया
बदल गई अब दुनिया!

जीते-जी न जान सके

जीते-जी न जान सके
वो मरने पे क्या जानेंगे

एक मिनट को चर्चा होगी
दो मिनट का मौन रहेगा
सोच ज़रा मन मेरे तू अब
सच में तेरा कौन रहेगा
पल में नज़रें उधर फेरकर
दुनिया नई बसा लेंगे
जीते-जी न...

इस जग की है रीत यही
दुर्बल की हरदम हार हुई
कड़वी-छिछली इस बस्ती में
झूठों की जय-जयकार हुई
सच्चाई की क़ब्र खोदकर
तुझको उसमें गाड़ेंगे
जीते-जी न...

दर्द भरा है सबका जीवन
दर्द ही सबने बाँटा है
चार पलों की ख़ुशियाँ देकर
थमा दिया सन्नाटा है
अपनापन भी दे न सके जो
हम उनसे फिर क्या पा लेंगे
जीते-जी न...

जिसको अपना तूने समझा
और सब कुछ था वार दिया

कैसे चुनकर उन अपनों ने
अब तुझको ही दुत्कार दिया
बीच भँवर में झूले नैया
ख़ुद ही हम डुबा लेंगे
जीते-जी न...

एक दिवस की पूजा होगी
तीन दिवस का रोना होगा
फिर तेरे फ़ोटो से छिपता
घर का कोई कोना होगा
राज किया जिसने उसकी
शुद्धि करने की ठानेंगे

जीते-जी न जान सके
वो मरने पे क्या जानेंगे।

एक टुकड़ा ज़िंदगी

एक टुकड़ा ज़िंदगी
अपनों से ही
होती रही भ्रमित
खोती रही
जीवन के मायने
बदलते चले गए
श्वासों के अर्थ
ग़लत हुआ हर गणित
शब्दों के पीछे छुपा मर्म
कोसता रहा अपने होने को
कौन पढ़ पाया
अहसासों और हृदय के
उस एकाकी कोने को?

सबने चुन लीं
अपने-अपने हिस्से
की ख़ुशियाँ
मुट्ठी भर मुस्कानें
समेटीं दोनों हाथों से
भरी रिक्तता स्वयं की
सँवार ली अपनी दुनिया
दर्द, आँसू सर झुकाए
अब भी तिरस्कृत
शून्य के चारों तरफ़
निराश, हताश भटकते

बंज़र ज़मीन पर
चीत्कार भरता मन
सुन रहा अट्टहास
बदली हुई दृष्टियों का

भिक्षुक बना प्रेम
स्मृतियाँ बनीं सौत
एक टुकड़ा ज़िंदगी
पल-पल बरसती मौत।

भीड़

भीड़ अब व्यथित नहीं
लज्जित भी नहीं
रोज़ ही औंधे मुँह
निर्वस्त्र पड़ी स्वतंत्रता भी
नहीं खींच पाती ध्यान
नहीं आता अब कलेजा मुँह को
उतारी जाती हैं तस्वीरें
'प्रथम' होने की होड़ में
ब्रेकिंग न्यूज़ में बार-बार
दिखेगा हर कोण

दुखद घटना जो हुई है
सो, आएँगी संवेदना भी
हर दल की, एक-दूसरे पर
दोष मढ़ने की उत्सुकता लिए
इधर लुटती रहेगी अस्मिता
चादर के अंतहीन इंतज़ार में
उधर बिछेगी दरिंदगी सड़कों पर
सभ्यता और संस्कारों के
कई पुख़्ता सबूत मिलेंगे
नुचे जिस्मों से बहते लहू में

होगी जाँच, आक्रोशित चर्चा
क़ानून के ख़िलाफ़
कुछ गुमनाम आवाज़ें उठेंगी
निकलेगी रैली, होगा मौन
शायद जलें मोमबत्तियाँ भी
सारे तमाशों के बाद
वही ख़ून से सना अख़बार
बिछ जाएगा अलमारी में

सुनाई देते रहेंगे
अब और भी ऐसे
‘आम’ समाचार
‘आम’ जनता के
‘आम’ जनता के लिए
बदबू मारती, वस्त्र-विहीन
बेहद घिनौनी
एक और लहूलुहान लाश
हर रोज़ ही मिलेगी
अपने इस विकृत प्रजातंत्र की
अपने ही बनाए किसी चौराहे पर।

परजीवी

पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी
चौतरफ़ा रेलिंग के भरोसे टिकी
परजीवी ज़िंदगी
सब कुछ बौना
आत्मा-विहीन
निरर्थक, निरुद्देश्य
पेड़-पौधे, नदियाँ, जीव-जंतु
इमारतें, गाड़ियाँ
इंसान, रिश्ते
सभी घुन लगे, भुरभुरे
घुसपैठिया दीमक
लीलता रहा चुपचाप
बुनता रहा नफ़रत
भीतर-ही-भीतर

बंद ही सही
सारी दिशाएँ
बिछा दो, हर मार्ग पर
नुकीले प्रस्तर
होंगी तिरोहित भावनाएँ
तिरस्कार की दूषित सलिला में
फड़फड़ाने दो
डूबते-उतराते संबंधों की
गिड़गिड़ाती चिड़िया को
कि उड़ान भरते ही
फिर कतर पंख
पटक देना
उसी निर्ममता से
नागफनी के
सुरक्षित घोंसले में

देती रहेगी सड़ाँध
शब्दों की उबकाइयाँ

छिन्न-भिन्न
लावारिस लाश-से
अधकचरे अस्तित्व पर
भिनकेंगी समाज की मक्खियाँ
फिर न कोई आवाज़
न एकांत का भय
न चिड़चिड़ाहट, न अहसास
बस निःशब्द, अचेतन
मूक-बधिर मन
प्रश्नोत्तर के साँप-सीढ़ी की
बाँट जोहे बग़ैर
एक सन्नाटा, एक चुप्पी
औंधे मुँह पड़ी हुई
असंख्य अभिलाषाओं के
'वेंटिलेटर' पर
अंतिम घोषणा
और अकथ्य ही गूँजेगी
स्याह आसमान में
एक अनचाही, अनसुनी यात्रा की
निराश पदचाप।

सिर्फ़ इतना ही

बदला है समय
अब 'बात' होना
गुणवत्ता की निशानी नहीं
निकृष्ट और सर्वोत्तम के बीच
महज़ उम्दा प्रचार-प्रसार का
नाज़ुक फ़ासिला है
पाले हुए भ्रम का
अनायास जीवित हो जाना
और जीवंतता की मृत्यु
अत्यंत सहज है इन दिनों

कहीं बड़ा-छोटा, ऊँच-नीच
पद-पैसा देख
तय हो रहा
बुद्धिमत्ता का स्तर
तो कहीं स्वार्थी गुटों में
पूर्व-निर्धारित हैं विजेता
इधर कलई खोलने वाला मूर्ख
असाध्य रोगी-सा खीजता, तिलमिलाता
और सरकारी फ़ाइलों में कसमसाते
किसी गंभीर मुद्दे की तरह
सिसककर बीच राह ही दम तोड़ देता है

हम किसी के लिए पूजनीय हैं
और किसी के लिए कीड़े-मकोड़े
अब तय हमें करना है
सिर्फ़ इतना ही
कि स्वयं को दर्पण में देख
बग़ैर शर्मिंदगी के
मुस्कुरा पाते भी हैं या नहीं।

सुनो, भगवान

सुनो, भगवान
आज भी वही हुआ
जो होता आया है
अब इन बातों से
ज़्यादा हैरानी नहीं होती
हाँ, होता है मन उदास
कुछेक आँसू भी
अनायास ढुलक पड़ते हैं
मुट्ठियाँ भिंचती हैं
बेवक़ूफ़ कलेजा भी
मुँह को आता है
रूँधता है गला
एक-दो दिन
और फिर वही
सामान्य दिनचर्या
सच, इंसानी जीवन कितना
सस्ता हो चला है यहाँ

पता ही होगा न तुम्हें तो
तुम्हारी ही बनाई दुनिया जो है
यहाँ तुमसे ज्यादा ज़रूरी कुछ भी नहीं
तुम्हारे अलग-अलग
नामों की आड़ में
और उन्हीं नामों से बनी
पूजनीय किताबों में
होता है तुम्हारा ख़ूब ज़िक्र
कि तुम ये कर सकते
तुम वो कर सकते
तुम सर्वदृष्टा
तुम सर्वज्ञानी

तुम पालनहारा
जग अज्ञानी
तुम निर्माता
तुम दुःखहर्ता
तुम भाग्य-विधाता
तुम ही सबके दाता

सुना है
तुम्हारी अनुमति के बिना
एक पत्ता भी नहीं हिलता
ये प्राणवायु, नदिया की धारा
समंदर, पहाड़, पत्थर
सबमें समाहित हो तुम

अब एक बात बताओ
जब ये सब सच है
तो एक बार आगे बढ़कर
तुम ख़ुद ही कभी अपने ऊपर
सारा दोष क्यूँ नहीं ले लेते
हटते क्यूँ नहीं
हम सबकी दुनिया से
क्या तुम्हें समझ नहीं आता
इस सबकी जड़
बस तुम ही रहे हो सदैव

या फिर ऐसा करो
एक ही झटके में
ख़त्म कर दो ये दुनिया
और करो पुनर्निर्माण
इंसानियत का
बस, इस बार
उस पर
मेड इन हिंदू, मुस्लिम
सिख, ईसाई, जैन, पारसी
या कोई अन्य धर्म का
ठप्पा लगाकर न भेजना
बस, 'मेड बाय गॉड' काफ़ी है

और क्या कहूँ, मेरे दोस्त
जी बहुत व्यथित है
जब रोक नहीं सकते
मानवता की लाश को
हर गली चौराहे पर
दिन-प्रतिदिन गिरने से
तो हर बात का
श्रेय भी क्यूँ ले लेते हो
छोड़ ही दो न
हमें अकेला हमारे हाल पर
प्लीज, फ़ॉर योर ओन सेक
जीने दो हमें चैन से अब
तुम्हारे नाम के बिना।

मेरी नन्ही-सी दुनिया

मेरी नन्ही-सी दुनिया में
ज़्यादा कुछ भी नहीं

मुट्ठी में बंद हौसले हैं थोड़े
पलकों में चंद सपने हैं घिरे
बिजली-सी चमक समेटे, पल भी हैं
कुछ यूँ ही, बस सिरफिरे
उम्मीदों से लहलहाता, बवजह ही खिलखिलाता
एक अपना-सा आसमाँ है
थोड़ी-सी ज़मीं भी है, वहीं कहीं पैरों तले
दिखता यहाँ से, मुझको सारा जहाँ है

हौसले साथ छोड़ देते हैं अक़्सर
जब नाकामी दामन थाम लेती है
सपने भी बिखर जाते हैं यूँ तो
जब हक़ीक़त आ के सलामी देती है
घटाओं की चिलमनों में जाकर कहीं
छुप जाते हैं वो सारे ही पल और
चकनाचूर हुई उम्मीदों से कई बार
सिहर उठता है, बरस के आसमाँ मेरा
पर साथ देने को अब भी
वही ज़मीं है मेरी अपनी

मेरी नन्ही-सी दुनिया में
ज़्यादा कुछ भी नहीं।

ज़िंदा हूँ मैं

मैं छोड़ती नहीं हूँ उम्मीद
उम्मीद के ख़त्म हो जाने पर भी
नहीं रहती मौन
शब्दों के चुक जाने पर भी
हँसती हूँ व्यर्थ ही
हँसी न आने पर भी
पुकारती हूँ गला फाड़
अनसुना हो जाने पर भी

कि उम्मीद को छोड़ा
तो फिर रहा क्या?
जो दोहराया ही न ख़ुद को
तो आख़िर कहा क्या?
न हँसी व्यर्थ ही
तो कब हँस पाऊँगी
चीखकर जो पुकारा
तो ख़ुद से ही मिल के आऊँगी

उम्मीद के पूरे होने की
स्वार्थी उम्मीद में
अब नहीं जीती मैं
उत्तरों की बाट जोहती
सूखी सुराहियाँ
नहीं पीती मैं
हँसती हूँ कि ज़िंदगी
चलती रहे
पुकारती हूँ कि चलो
मेरी ही ग़लती रहे
वर्ना ये समझने में अब
कोई मुश्किल, न कला

निःस्वार्थ कोई किसी का
कभी हुआ है भला
और फिर एकाएक खिल पड़ती हूँ मैं
जैसे अपनी ही बेवक़ूफ़ियों से मिल पड़ती हूँ मैं

है बंज़र ज़मीं, उधर सरहदों में
मैं उड़ती इधर, अपनी हदों में
जैसे सोने के पिंजरे का
इक परिंदा हूँ मैं
ईमाँ सलामत, तभी तो
ज़िंदा हूँ मैं।

क्या किया तुमने

पहाड़ियों के पीछे
छिपता सूरज
रोज ही उतर जाता है
चुपचाप उस तरफ़
बाँटता नहीं कभी
दिन भर की थकान
नहीं लगाता, दी हुई
रोशनी का हिसाब
अलसुबह ही ज़िद्दी बच्चे-सा
आँख मलता हुआ
बिछ जाता है आँगन में
देने को, एक और सवेरा

हवाओं ने भी कब जताया
अपने होने का हुनर
चुपचाप बिन कहे
क़रीब से गुज़र जाती हैं
जानते हुए भी कि
हमारी हर श्वास
क़र्ज़दार है उनकी

नहीं रूठीं नदियाँ भी
हमसे कभी
बिन मुँह सिकोड़े
रहीं गतिमान
समेटते हुए
हर अवशिष्ट, जीवन का

साथ देना है तुम्हारा

तन्हाई में
यही सोच, चाँद भी तो
कहाँ सो पाता है
रात भर
देखो न, तारों संग मिल
चुपके से खींच ही लाता है
चाँदनी की उजली चादर

ये उष्णता, ये उमस
आग से जलती धरती
की है कभी, किसी ने शिकायत?
उबलता हुआ खलबलाता जल
स्वतः ही उड़ जाता है, बादलों तक
और झरता है
शीतल नीर बनकर
सृष्टि में ये सब होता ही रहा है
सदैव से, तुम्हारे लिए

और तुम?
क्या किया तुमने?
उखाड़ते ही रहे न
हर, हरा-भरा वृक्ष
अड़चन समझकर
चढ़ा दिया उसे अपनी
अतृप्त आकांक्षाओं
की अट्टालिका पर
और फिर गाड़ दी
उसी बंज़र ज़मीं में
अपनी अनगिनत
औंधी, नई अपेक्षाएँ।

माँ कहती थीं

माँ हरदम कहतीं
दुनिया उतनी अच्छी नहीं
जितनी तुम माने बैठी हो
और मैं तुरंत ही
चार अच्छे दोस्तों के नाम
गिना दिया करती

माँ ये भी समझातीं
हरेक पे झट से विश्वास न करो
जाँचो-परखो, फिर आगे बढ़ो
और मैं उन्हें शक्की मान
रूठ जाया करती

माँ आगे बतातीं
आँखों की गंदगी पढ़ना
किताबों में नहीं लिखा होता
मैं फिर भी उन पन्नों में घुस
फ़िज़ूल ख़्वाब सजाया करती

माँ थकने लगीं, ये कहते हुए
तेरी चिंता है बेटा
और जमाने का डर भी
यूँ भी तुम्हारा बचपना जाता ही नहीं
मैं जीभ निकाल, खी-खी
हँस दिया करती
कि जाओ मैं बड़ी होऊँगी ही न कभी

इन दिनों मैं
हैराँ, परेशाँ भटकती

अपने ही देश में
अपनी बेटी का हाथ
कस के थामे
देखती हूँ आतंक
दीवारों की चीखों का

भयभीत हूँ
इर्द-गिर्द घूमते काले सायों से
दिखने लगे
लाशों के ढेर पर बैठे
सफ़ेदपोश, मक्कार चेहरे
जिनके लिए है ये मात्र 'घटना'
ख़ुद पर घटित न होने तक
सुबक पढ़ती हूँ अचानक
और मनाती हूँ मातम
अपने 'होने' का

माँ, तुम ठीक ही कहती थीं हमेशा
सामान्य तौर पर
यही तो सच है, इस समाज का
तुमने दुनिया देखी थी
और मैं अपवादों को
अपनी सारी दुनिया मान
सीने से लगाए बैठी थी

देखो न, अब मैं भी
दोहराने लगीं हूँ यही सब
अपनी ही बेटी के साथ
सीख गई हूँ बड़बड़ाना
और हँसते-हँसते रो देना
समाचारों को देख
पागलपन की हद तक
खीजती-चीखती भी हूँ
माँ आजकल, कुछ नहीं कहतीं
बस, उदास चेहरा लिए
हैरानगी से देखती हैं मुझे।

ज़िंदगी

मैंने देखे हैं
सपने बनते हुए लोग
और ढहते हुए ख़्वाब
जगमगाती हुई एक रात
और सिसकते जज़्बात
मचलते हुए अरमान
और टूटता आसमान

महसूस की है
मुस्कुराहट में छिपी उदासी
और अंदर की बदहवासी
महफ़िल में बसी ख़ामोशी
और हर एक कोना वीरान
हालात से चूर-चूर
और जीने को मजबूर

तब जाना इस राज़ को
कि मुरझाए से कुछ चेहरे
हर पल बदलते रिश्ते
टूटते हुए घरौंदे
मायूसी की छाई बदली
भीगे हुए से पल
ही तो प्रतिबिंब हैं
उस 'शै' का
जिसे 'ज़िंदगी' कहते हैं।

तुम, पूछना अवश्य

ओह, मासूम बच्चे!
ये उम्र नहीं थी तुम्हारी
इस तरह जाने की
अभी बस कल ही तो तुमने
माँ कहकर उसे गले लगाया होगा
और पापा की उँगली थामे
निकले होगे कभी शाम को
देखते होगे आश्चर्यचकित होकर
टुकुर-टुकुर आँखों से
पंछी, पौधे, नीला आकाश
कितने प्रश्न कौंधे होंगे
हृदय में तुम्हारे
जिनका उत्तर तुम्हें
मिलना ही चाहिए था

तुम्हें सीखनी थी गिनतियाँ
कंठस्थ करनी थी
कितनी ही बाल कविताएँ
खींचनी थी आड़ी-टेढ़ी लकीरें
पन्नों और दीवारों पर
भरने थे उसमें
अपनी कल्पनाओं के तमाम रंग
छुपना था कहीं किसी पर्दे के पीछे
और 'मैं यहाँ हूँ' कहकर
इठलाते हुए बाहर आना था
तुम्हें अपनी तोतली ज़ुबाँ से करनी थी तमाम ज़िद
इस मीठी, सुनहरी हँसी से जीत लेनी थी दुनिया

लेकिन मेरे आयलान
ये दुनिया हँसती कहाँ है आजकल?

और न ही हँसने देती है किसी को
तभी तो छीन ली तुमसे
तुम्हारी खिलखिलाहट
और किनारे ला छोड़ा तुम्हें
निपट अकेला
उसी रेत पर
जहाँ टीले बनाने की उम्र थी तुम्हारी
तुम इस दुनिया में
कक्षा का पहला पाठ भी न
पढ़ सके
और देख ली, तुमने 'दुनियादारी'

काश! अब हम सब भी
न मुँह फेरें
रेत पर औंधे मुँह सोती हुई सच्चाई से
पुरानी कहावत हुई
कि "दर्द को महसूस किया जा सकता है
वो दिखता नहीं"
इधर तुम्हारी तस्वीर
कलेजा चीरकर रख देती है

ओ मेरे, नन्हे दोस्त
अलविदा तुम्हें!
लेकिन पूछना अवश्य
उस ईश्वर से
जो लहरें बन तुम्हें
इंसानियत की लाश ठेलता
तट तक बहा तो लाया
पर जीवित क्यूँ न रख सका?
उसकी न्याय की पुस्तक में
हर निर्णय देरी से ही क्यों आता है?
कैसे बर्दाश्त होती है उसे
किसी निर्दोष की निर्मम मौत?
क्यों बचा लेता है वो आततायियों को
गुनाह के बाद भी
इक और गुनाह करने के लिए
आख़िर, दूसरों के पापों की सज़ा
बेबस, मासूम लोग ही क्यों भुगतते हैं?

तुम स्त्री हो

तुम स्त्री हो?
बरसों से दबी हुई
रिवाजों के मलबे तले
समाज की बनाई, आग्नेय चट्टानों के बीच
पिसती गईं परत-दर-परत
रिसता रहा लहू अपने ही
लहूलुहान वजूद से
झेलीं अनगिनत यातनाएँ भीं
तमाम यंत्रणाओं और प्रताड़नाओं के बीच
उठना चाहा जब भी
होता रहा, देह पर अतिक्रमण

सुरक्षा के नाम पर हुई नज़रबंद
चलीं अविश्वास की अनगिनत आँधियाँ भी
जलाया अपनों की ही क्रोधाग्नि ने
रिश्तों को जीत लेने का
हर प्रयत्न अब असफल ही था
कि हर उठती कोशिश को
नियति का भीषण प्रहार भेद देता
तमाम झंझावातों के बीच
आख़िर कुचल गयी आत्मा भी
धँसता गया, तन-मन
उन्हीं दो पाटों के बीच

समय ने और भी गहरा दिए
गर्त के बादल
धूल-धूसरित शरीर अब
खिलता नहीं पहले-सा
'मौन' ही बन गया पहचान उसकी
शायद ये प्रायश्चित है

उसके ‘होने’ का

लेकिन डर है
कहीं उसे इंतज़ार तो नहीं
कि कोई आकर ढूँढ़ निकालेगा उसे
उत्खनन में
फिर पा लेगी वो एक नया नाम
हृदय थोड़ा अचंभित और द्रवित हो
चीत्कार ही उठा सहसा
तुम ‘स्त्री’ हो या ‘जीवाश्म’?

सफ़र

भीड़ भरे बाज़ार में
रोज़ ही टकराते
कंधों से कंधे
कहाँ पलटकर देखता है कोई
किसी का चेहरा
बस, चले जा रहे हैं अकेले
मैं, तुम या हम सभी?

बस की बग़ल वाली सीट
या रेल का खचाखच भरा डिब्बा
निगाहें झाँक रही होतीं
खिड़की से बाहर
मन डूबता-उतराता
एक अनिश्चित सोच में
कल्पनाओं की उड़ान की
कभी हड़ताल ही नहीं होती
ठंडी आह भर हृदय
खोल लेता
उल्टी किताब कोई
पर मैं जानती हूँ, तुम भी
और हम सभी
कि दूर शहर में कहीं
बसता है हमारा मन

उम्मीदें टटोलती
उस जगह की तस्वीरें
रुक जाते क़दम
इक नाम सुनते ही
धड़कनें पकड़ने को होतीं
अपनी रफ़्तार

और यक़ायक़
उतर जाता है चेहरा
जबकि मैं जानती हूँ, तुम भी
और हम सभी
कि चलना अकेले ही होगा सबको

'आस' अब एक रूपांतरित टीस है
बावरा मन रोज़ ही हँसता
अपने-आप पर
और चुपके-से गिरा देता
कुछ खारे मोती
लेकिन मैं जानती हूँ, तुम भी
और हम सभी
कि दर्द का सफ़र, तन्हा ही तय
करना होता है

ख़ुशी के सुंदर चौराहे पर
कुछ पलों का सुस्ताना
फिर जानी-पहचानी कसक लिए
मजबूर हो निकल जाना
अब करना होगा जतन
कि ये रास्ते खुलेंगे
आगे जाकर
जहाँ से निकल रहे होंगे
कुछ और रास्ते
और ये पुराने
गुम हो जाएँगे
नई राहों की भीड़ में
हाँ, मैं जानती हूँ, तुम भी
और हम सभी
कि रास्तों के मुसाफ़िर
उम्र-भर साथ नहीं देते

करते रहना होगा इंतज़ार
सड़क किनारे बनी
उसी पत्थर की पुलिया पर
बैठे-बैठे, पथराएँगी आँखें

हो जाओगे बुत एक दिन
बरसों बाद गर गुज़रा
उधर से कोई
पूछेगा ज़रूर, कौतुहल में
'जाना कहाँ हैं?'
तुम हैराँ हो उसे देखोगे
अपने बाल नोचते हुए
खीजकर चल दोगे, दिशाहीन
शायद पत्थर भी उछालो
आसमाँ में कोई
क्योंकि मैं जानती हूँ, तुम भी
और हम सभी
कि वक़्त के साथ
इंतज़ार ढलता नहीं
बल्कि घुल जाता है
रूह के ज़र्रे-ज़र्रे में
सदियों की तपिश से भी
ये पिघलता नहीं।

प्रतिध्वनि

मैं पहाड़ की सबसे ऊँची चोटी से चीख
सुनना चाहती थी अपनी प्रतिध्वनि
या कि जानना चाहती थी
क्यूँ नहीं सुन सका इसे कोई
महसूसना चाहती थी
वो फूलों-सा नाज़ुक स्पर्श
मेरे मन को

मैं बादलों के उस पार देखना चाहती हूँ
वो नहीं जानना जो विज्ञान कहता है
वर्ना ये मन क्यों बरसता फिर
बस यूँ लगा उस पार भी है कोई
भीगा-भीगा-सा
मैं भागकर गले लगाना चाहती हूँ उसे
और रौंदकर रख देना चाहती हूँ
उसके भीतर की हर उदासी।

उम्मीद का सूरज

रोज़ सुबह बिन बुलाए
सरक आता है
खिड़की में से
उगने लगती हैं उम्मीदें
फैलने लगती हैं अनायास ही
मन के आँगन में उसकी जड़ें
घर में जगमगाती रोशनी की तरह
चमक उठता है चेहरा मेरा
फूल भी तो बेशरम-से
बेझिझक खिल उठते हैं
पर हर एक पहर के साथ ही
संकीर्ण होने लगती है
उसकी भूमि
ओझल हो जाना चाहता है वो
नज़रों से
कि अब दूर देश में होगा
एक और दिन

मैं फिर भी दौड़ती हूँ
उसके पीछे बेतहाशा, बेसाख़्ता
सारे कमरों, आँगन
बग़ीचे की
चाहरदीवारी को लाँघती हुई
टकराती हूँ दीवारों से
गिरती हूँ, लड़खड़ाकर
खीजकर लगाती हूँ
एक आवाज़
कि रोक सकूँ
कुछ और पल
जी सकूँ, थोड़ी और ज़िंदगी

पर उसे टोका जाना
कब रास आया है, भला!

नहीं देखता वो पलटकर
किसी फ़िल्मी हीरो की तरह
और न ही सर पर
फेरता है कोरा आश्वासन
पर मैं जानती हूँ
वो आएगा
उसे आना ही होगा
यही तो तय हुआ था
दुनिया बनाते समय
हाँ, रोज़ ही उगता है
मुझमें भी एक सूरज
जो साँझ होते ही
गुमसुम हो डूब जाता है कहीं।
(उम्मीद का सूरज, न जाने उगकर डूबता है या डूबकर उगता है)

रेगिस्तान

कहाँ टिक पाता है, कोई
भीड़भाड़ वाले माहौल में
ज़्यादा देर तक
इक बेचैनी-सी
होने लगती है
घुटता है दम
लड़खड़ाती हैं साँसें
छटपटाता है मन
और तड़प उठता है दिल
तलाशने को एक ऐसी जगह
जहाँ जीने के लिए न शर्तें हों
न सीमाओं का डर
कि जिनको लाँघ पाने का भय
मार देता है, जीते-जी

जीवन के कटु सत्य
दिलवा ही देते हैं
तिलांजलि, हर रिश्ते की
और रह जाती है
एक कसक बन
कुछ यादें, थोड़ी उम्मीदें
जिन्हें बीच राह ही
मायूस हो लौट आना
पड़ता है

उस वक़्त
याद आता है
वो रेत का समंदर
जहाँ मीलों दूर
एक चेहरा तक नज़र

नहीं आता
पर फिर भी मिलता है
बेहद सुकून, अपनापन
उस एकाकीपन में ही

एक रिश्ता-सा जुड़ गया हो ज्यूँ
हाथों से फिसलती
रेत के साथ
जिसे मुट्ठी में थामने की
हर अधूरी कोशिश
मुँह चिढ़ाते हुए
बयाँ करती है
नाकाम रिश्ते की
एक-एक कमज़ोरी
और उसी के बनते-बिगड़ते टीले
अहसास दिलाते हैं
स्वप्न-महल के, अनायास ही
टूटकर बिखर जाने का

चमचमाती रेत
साक्षी हुआ करती है
जीवन के ख़ूबसूरत पलों की
एकांत, सुलझाना चाहता है
कई अबूझ पहेलियाँ
और मृगतृष्णा याद दिलाती है
अंजान लम्हों की तलाश में भटकते
इस पागल मन की

यादों का अंतहीन रेगिस्तान
रोज़ ही सुनाता है, यूँ तो
वही एक-सी कहानी
कहने को वहाँ जाकर
हम सभी हो जाते हैं
दुनिया से एकदम अलग
लेकिन पा लेते हैं, ख़ुद को
अपने-आप के
बेहद क़रीब।

बुरबक

जीवन एक सच
या मृत्यु ही वास्तविकता?
कितने स्वप्न देख लिया करता है
ये पागल मन
एक ही जन्म में
फिर रोया करता है हरदम
बुक्का फाड़ के
झुंझलाता है, सर पीट-पीटकर
और बाक़ी वक़्त गुज़ार देता
उनके पूरे न होने के मलाल में

क्यूँ न मान ही लिया जाए
ये सर्वविदित कथन
'जो अपना है वो अपना ही रहेगा
और जो न हो सका, वो अपना था ही नहीं'
आँसू टपका-टपकाकर रोने से क्या फ़ायदा
किसके पास है इतना फ़ालतू वक़्त
जो आकर संभाले तुम्हें
पोंछ डाले सारे आँसू
तुम नादाँ तो नहीं
फिर काहे का तमाशा और
काहे की ज़िंदगी
बुरबक!

चलो, बहुत हुआ
अब मुँह धो लो
मुस्कुराओ, यही बिकता है
दुनिया के बाज़ार में
ख़ाँमख़ाँ ढूँढ़ते हो मंज़िलें
एक पूर्व-निर्धारित लक्ष्य की

आह! मृत्यु ही तो अंतिम पड़ाव है
हर जीवन का
तुम बुनते रहो
गुनते रहो
चाहे अनगिनत सपने
जल जाएँगे सब
भकभका के
एक साथ ही
हाँ, तुम्हारे ही इस
नश्वर शरीर के साथ।

सीता का संघर्ष

अश्रुपूरित नज़रों से तकती रही, राहें तेरी
सिर्फ़ एक दिलासे का ही तो था, बेसब्री से इंतज़ार
जो मिटा देता, पल में ही, दिल के सारे रंज़ोग़म
और रहता प्रेम का हर सुगंधित लम्हा बस यूँ ही बरकरार
पर न जाने कैसे हुए तुम इतने निष्ठुर, निर्मम, निर्मोही
कि इक क़दम भी न चल सके ख़ुद मुझ तक
और हारकर मायूस पलकों ने भी, ढकेल ही दिया
आकांक्षाओं के हर, समंदर को वापिस भीतर

देखते रहे तुम, दूर से ही तमाशाई बन
उलझे रहे, ख़ुद की ही बनाई उलझनों की चादरों में
तार-तार करते गए उन्हें
एक-एक कर उधेड़ डाले वो सारे धागे भी
जो साथ मिलकर, हमने ही कभी बुने थे
अपने ख़्वाबों के उस सुनहरे करघे पर
नहीं महसूसा तुमने कोई भी दर्द, और न ही
वास्ता था तुम्हें ज़रा भी मेरी छटपटाहट से
तुम तक पहुँचने की मेरी व्याकुलता
इस निश्छल, निःस्वार्थ प्रेम ने भी
नहीं कचोटा तुम्हारी अंतरात्मा को, एक पल को भी
बल्कि तुम तो तलाशते रहे, हर बार ही एक नया आक्षेप
तो क्या, जो छलनी हुआ किसी का अथाह विश्वास
तुम्हारा 'अहं' तो पुष्ट होता रहा न!

कितनी ही बार फेंकी गई, अवांछित सवालों के
इस घिनौने, भयावह दावानल में
जिनका कोई सरोकार ही नहीं था
हमारी इस ख़ूबसूरत, खिलखिलाती दुनिया से
जवाब जानना चाहते हो न तुम, तो सुनो
सच कहूँ, रोम-रोम जलता है मेरा वहाँ

भय और वितृष्णा से
भय इस अलौकिक प्यार को खो देने का है
और ये असहनीय वितृष्णा
मुझे अपने आप से ही हो गई है
कि क्यूँ न बन सकी, तुम-सी अब तलक
मेरी हर कोशिश आज भी नाकाम ही क्यूँ है?

तुम्हारी शंकाओं की गहराई ने गिरा दिया है मुझे
अपनी ही नज़रों से पटककर
इस धरा पर खंडित होने के लिए
हैराँ हूँ, तुम्हारे इस अप्रत्याशित उद्घोष से
कि तुमने मुझे मुक्त कर दिया आज
रिश्तों के सारे बंधनों से
और छोड़ दिया भेड़ियों के इस शहर में निपट अकेला
कराहता हृदय, पैर पटकती ख़ामोशी
न जाने क्यूँ अब भी प्रयासरत हैं
तुम तक पहुँचने को
तरसती हैं आज भी निगाहें
यूँ तो जाने की अनुमति दे दी तुमने बिन पूछे ही

पर तुम ही कहो, कहाँ जाऊँ?
कहाँ जाऊँ?
कहाँ जाऊँ, अब मैं तुमसे बिछुड़कर?
आख़िर सबसे, बिछुड़ने के बाद ही तो
तुमको था पाया मैंने।

स्वप्न या...

एक घना जंगल
जहाँ जानवरों की आवाजाही
पूर्णतः वैध है
चोरी से परखते
नापते-तौलते
घात लगाते पशु
अचानक टूट पड़ते हैं
अपने-अपने शिकार पर
लेते हैं आनंद
लहू से लिपटे उस
माँस के लोथड़े और
निरीह चीखों का

दिखाई देते हैं
परिदृश्य से सहमे
पेड़ पर चढ़े हुए
टहनियों से लटके
झाड़ियों में दुबके
कुछ छोटे जीव-जंतु

सरसराहट-सी आती है
बीच-बीच में कहीं
सियारों के हूकने की आवाज़
जो हर पलटती गुर्राहट के साथ
डूबती चली जाती है

आँख खुलती है
मैं ख़ुद को
अपने देश में पाती हूँ।

स्त्री

बचपन उनमें लूट रही हूँ
अपने सपने कूट रही हूँ

कभी छुपी थी
डर बैठी इक कोने में
कभी लिपट रोई संग
माँ के बिछौने में
गया समय ले साथ
बीती बात सभी
अब ख़ुद से ही रूठ रही हूँ
अपने सपने...

रिश्तों को अपनाया
जिया भरम ही था
आया हिस्से जो
पिछला बुरा करम ही था
है किससे क्या कहना
और किसकी ख़ातिर लड़ना
थोड़ा-थोड़ा टूट रही हूँ
अपने सपने...

वो जीवन भी क्या
जो क़िस्तों में पाया
न समझी ये दुनिया
है इसकी क्या माया
थी कोशिश पल भर
हँसकर जी लेने की
भीतर ही ख़ुद छूट रही हूँ
अपने सपने।

रिश्तों के समीकरण

रिश्तों के समीकरण, बेहद पेचीदा
उलझे-उलझे से, उस
पाइथागोरस प्रमेय की तरह
जिसे समझा तो आसानी से
पर संतुलित कर पाना
हरेक के बस की बात नहीं

लाख कोशिशों के बावजूद भी
नहीं होता आसाँ
हर एक पक्ष को उसकी
अहमियत का एहसास दिला पाना
और कोई-न-कोई, नाख़ुश हो
बिगाड़ ही देता है
मन-मस्तिष्क का संतुलन

पुनः नये सिरे से समझकर
सुलझानी पड़ती है, हर बिगड़े
हिस्से की उलझन
कि क्षतिग्रस्त हुए बग़ैर ही
संरक्षित रह सके सबका मूल रूप

क्यूँ न ख़ुद ही
तोड़ दें हम, व्यर्थ की
आकाँक्षाओं के सारे बंधन
न करें कुछ भी अपेक्षा
किसी से कभी

स्वयं की ख़ुशियों का विभाजन कर
समझें दूसरे पक्ष की महत्ता भी

और फिर जोड़ दें इसमें
अहसासों के बहुगुणन से उपजे
ख़ुशियों के वो तमाम पल

निकाल बाहर फेंके
हर अवांछित स्वार्थ
शून्य कर डालें
अपना सारा वजूद
तब कहीं जाकर
संतुलित हो पाएगा
जीवन का हर
जटिल समीकरण।

मौन

मौन
अपनी ही आवाज़ के विरुद्ध
एक कमज़ोर आवाहन
आवाज़ जो सुनकर भी
तय न कर सकी
ध्वनि तरंगों के उस पार
का सहमा-सा रास्ता
कुछ शब्द, अटके हुए
गले में अब भी
भावनाओं के झूले में
झूलते, उलझ रहे
अपनी ही बनाई
अदृश्य बेड़ियों के जाल में

कुछ स्मृतियाँ
सिसकियाँ बन बिखरती हुईं
एकांत में
पलकें दबाकर सोख रहीं
भीतर की नमी
चल रही श्वास
धड़कनों का हर सुर
गूँजता हुआ देता
कर्कश ध्वनि

एक पसरा हुआ सन्नाटा
किसी मज़बूत पत्थर के
अहंकार तले दबी हँसी
ओढ़ लेती है
विवशता का आभासी आवरण
मौन कुछ नहीं

कोरा विश्वासघात है
अपने ही कायर मन से
जो बोलता तो बहुत है
पर कहता नहीं
हाँ, ये न है आध्यात्म
और न पूजा
मौन ज़रूरी नहीं
बस, इंसान की
मुँह छुपाती मजबूरी है।

सुबह, हुई है अभी

सुबह हुई है अभी
रात की गुमसुम कलियाँ
खिलखिला रहीं बेवजह
चाँद भी बत्ती बुझा
सो गया पाँव पसारे
अठखेलियाँ करते थक चुके
टिमटिमाते सारे तारे
नर्म घास के बिछौने पर
ख़ुद ही लुढ़क गया
ठहरा हुआ आलसी मोती
शर्माती हुई हौले-से
झाँकने लगी लालिमा
या कि आती रश्मियों को देख
लजा रहा आसमाँ

सारी उदासियाँ भूल
किरणों की सलाई पर
बुनने बैठा कोई
टेढ़े-मेढ़े, बेतुके ख़्वाब
पक्षियों की महफ़िल
कतारबद्ध हो सजने लगी
घर की छतों और
उन्हीं चिर-परिचित तारों पर
मुंडेर पर इतराती, फुदकती
विचारमग्न वही बुद्धू गिलहरी
तितलियाँ हो रहीं फ़िदा
अपने ही रंगीन नज़ारों पर

अलसाई-सी सारी खिड़कियाँ
खुलने लगे ताले

चहारदीवारी को फलांगकर
गिरा आज का अख़बार
कल की बासी ख़बरों का
था कहीं आदतन, अदना-सा इंतज़ार
आँखों को खंगालता
मासूम बचपन लद गया वैन में
काँधे पर लटका भविष्य
शुरू होने लगी सड़कों पर खटपट
मंदिरों से बजतीं ध्वनि-तरंगें
कोई हाथ दुआ को उठता हुआ
दूर चिमनियों से भागा धुआँ सरपट

दो अजनबी चेहरे आज भी
मुस्काए होंगे दूर से
सेहत की चहलक़दमी तले
एक दर्जन ठहाके
लग रहे होंगे, उसी पार्क में
दुनिया चाहे कितना भी जले
रात से बेसुध पड़ी ज़िंदगी की
टूटी तंद्रा, बिखरा स्वप्न
दुकान के खुलते शटर की तरह
खुलने लगी असलियतें

ओह, वक़्त नहीं!
आज भी जल्दी में हैं, सभी
क्या फिर से कर दी भविष्यवाणी
उसी शास्त्र-व्यापारी ने
सृष्टि के आख़िरी दिन की?
खैर, उठना ही होगा
चलना ही होगा
एक और सुबह
हुई है अभी।

अविजित

आओ, काटो, रेत दो
उम्मीदों का गला
कि इंसान न बन सके तुम
तोड़ना चाहते हो
इरादों को?
ख़रीदोगे, जज़्बात को?
जाओ, जाकर सीख लो
पहले इंसानियत
तो समझ सकोगे
संवेदनाओं को
और शायद फिर
हर शब्द का अर्थ
पर यक़ीं हो चला
तुम जैसों का
इस दुनिया में
होना ही व्यर्थ

मत भूलना कि
शब्दकोष की थाह नहीं होती
अधर्म, अन्याय की कोई
मंज़िल, राह नहीं होती
गर तय हैं तुम्हारी राहें
तो कान खोलकर सुन लो
कि कोई न ख़त्म कर सका
शब्दों की भाषा
ये तो है वटवृक्ष
जो नित ही जन्म देगा
अनगिनत शाखाओं को
तुम्हारा हर प्रहार
उतनी ही गति से

पैदा करता जाएगा
रोज़ दो नए अविजित
जगेन्द्र, अक्षय, कलबुर्गी

और फिर चार
चार से सोलह
बत्तीस, चौंसठ
बढ़ता रहेगा आँकड़ा
हार जाओगे तुम
वार करते-करते
और एक दिन
गश खाकर
इसी वृक्ष की छाँह में
सुस्ताना पसंद करोगे।

(यक़ीन मानो, तब तुम्हें भी अपने घृणित कृत्यों पर भीषण पीड़ा होगी और शायद अफ़सोस भी।)

वक़्त के साथ-साथ

ये न कविता है, न कहानी है
वही मासूम ज़िंदगानी है
तुम हँसे थे देख, जिनको कभी
उन्हीं आँखों से गिरा पानी है

तमाम उम्र जिसका इंतज़ार रहा
वो मिले भी तो, कभी कुछ न कहा
बदलते दौर संग बदलते रहे
रिश्ते हैं या मौसम की ये रवानी है

वक़्त के दरिया संग बहते रहो
न करो उफ़ भी ज़ख़्म सहते रहो
कल यहाँ थी, अब दिखेगी कहीं
ये मोहब्बत भी आनी-जानी है

न ग़मगीन हो के बैठो यूँ अभी
तुम्हारी मौत ख़ुद आएगी कभी
न मानें हार जो हिम्मतवाले
इक कोशिश की फिर से ठानी है

मतलबी दुनिया में ढूँढ़े किसको
न चली दिल की भी मनमानी है
दौरे-तूफ़ाँ में कोई थामेगा तुझे
तेरी ये सोच ही बचकानी है।

उलझनें

वक़्त की तंग गलियों से निकल
फिर उसी दोराहे पर आ खड़े हम
जहाँ सच और झूठ की दीवारों पर
विश्वास और अविश्वास की परछाईं है
ख़्वाबों को मुट्ठी में बाँधे हुए
जज़्बात की हालात से कैसी ये लड़ाई है?
कभी बनती तो कभी बिगड़ती
आसमाँ पर बादलों की कितनी तस्वीरें
कैसे खो-सी जाती हैं धुआँ होकर
जैसे ज़िंदगी से मेरी तक़दीरें
आज फिर भीगी हैं पलकें और दिल में
वही ख़लिश छाई है
रूँधे गले से कँपकँपाते शब्द कहते आकर
इस ज़ंग में भी तूने मात ही खाई है
वक़्त का ज़ोर या बदक़िस्मती का शामियाना
अपनी तो हर हाल में रुसवाई है
साथ देने को तैयार खड़ी ख़ामोश ये ज़िंदगी
क्यूँ भला अब तक न हमें रास आई है!

अलविदा

देखकर अनदेखा कर जाने तक
सरेराह बेझिझक पलट जाने तक
इंतज़ार की गलियाँ छोड़
नई राहों में पलकें बिछाने तक
ख़ुशी की हर मुस्कान के
टूटकर बिखर जाने तक
तेरे मजबूर अकेलेपन को
मनचाहा साथी मिल जाने तक
कहीं तो कुछ ज़रूर था!

फिर टूटा इक छोर
ढूँढ़ता रहा ग़लतियों के निशाँ
खो गया हर अधूरा लम्हा
अपने अपाहिज़ परों को
ख़ुद में ही समेट सुबक रहा तन्हा
तेरी-मेरी हर इक बात के
बनने से बिगड़ जाने तक
कुछ तो हुआ ज़रूर था!

और अब जो बाक़ी है
वही साक्षी है कि जीना होगा यूँ ही
दुआ के बदले मिली
हर ज़हरीली बद्दुआ तक
चीखते हुए नींद में
ख़ामोशी के बिखर जाने तक
मंज़िल से पहले ही
क़दमों के लड़खड़ाने तक
शब्दों की सुराही के पूरा
रीत जाने तक
कही हुई बातों से

लोगों के मुकर जाने तक
अनकहे भावों के अर्थों के
सिमट जाने तक
मुट्ठी में बँधी रेत के
पोरों से फिसल जाने तक
विदा से अलविदा की
रस्म-अदायगी तक
इक शख़्स रोज़ जाने क्यूँ, मरता भरपूर था।

बचपन की यादें

कैसा सूनापन था उस दिन
घर के हर इक कोने में
नानी तू जिस दिन थी लेटी
पतले एक बिछौने में

फूलों-सा नाज़ुक दिल मेरा
सबसे पूछा करता था
कहाँ गया, मेरा वो साथी
जो सुख से झोली भरता था

कैसे तू अपने हाथों से
हर पल मुझे खिलाती थी
माथे की सलवटों में तेरी
बिंदिया तक मुस्काती थी

तू प्यार से मिलती, गले लगाती
जाने क्यूँ रोया करती थी?
तेरे गालों के गड्ढों से मैं
लिपट के सोया करती थी

पर मन मेरा था अनजाना-सा
कुछ भी नहीं समझता था
तुझसे जुदा होने का तब
मतलब तक नहीं अखरता था

अब आँगन की मिट्टी खोदूँ
तेरी रूहें तकती हूँ
संग तेरे जो चली गईं
ख़ुशियाँ तलाश वो करती हूँ

आँसू बनकर गिरती यादें
बस इक पल को तू दिख जाए
पर दुनिया कहती है, मुझसे ये
जो चला गया, फिर न आए।

मध्यांतर

एक वक़्त था, जब
पौ फटते ही
सुनाई देती थी
मुर्गे की बाँग
मस्ज़िद की अजान
चिड़ियों की चहचहाहट
दूधवाले की साइकिल की घंटी
नल से गिरते पानी की आवाज़
रेडियो सीलॉन पे बजता साज़
दौड़कर लपका करते थे
अख़बार को
दालान में गिरते ही
छीन लेते थे
अपना-अपना पन्ना
सब्ज़ी वाला ही सुना देता था
शहर का सारा हाल
घर में नये सामान के आते ही
छा जाता था उत्सव
बाँट आते थे मिठाई
सबको उसका क़िस्सा सुनाकर

यूँ तो बहुत दौड़-भाग थी तब भी
लेकिन इक सुकून था कहीं
और अब?
अब तो
मोबाइल ही जगाता है
सुबह-सुबह, एक निश्चित ध्वनि से
चिड़ियों की मधुर वाणी
घुट रही बंद खिड़की के बाहर
दूध भी वसायुक्त और वसामुक्त

हो चला पैकेट का
पानी संरक्षित है, बोतलों में
टी.वी. दिखा देता है
कुछ अख़बार और कुछ
बेकार की ख़बरें
मिठाई अब न बँटती न
खाई जाती है

कुकर की बजती सीटी के साथ
होता है दिन का आगाज़
सब्ज़ियों को काटते हुए
तय हो जाती दिनचर्या
चलता है दिमाग़ एक साथ
न जाने कितनी जगहों पर
इस बीच घनघना उठता है
कई बार फ़ोन भी, जो
जीवन का सबसे अहम हिस्सा बन
थमा देता अपनी मर्ज़ी से
कभी उम्मीद कभी मायूसी

हाँ, चल तो रही है ज़िंदगी
उसी दिनचर्या से
सूर्योदय भी वही है
और सूर्यास्त भी
दिखाई देती हैं, पौधों में
अब भी कलियाँ
फूल भी खिल रहे हैं
वही पहले की तरह
पर फिर भी कोई
बुझा-बुझा-सा है
क्योंकि बदल गया है अब
इन सबके बीच का
वो पहले-सा समय।

वक़्त हँसता रहा

सितम पर सितम रोज़ ढाता रहा
वक़्त हँसता रहा मुस्कुराता रहा

तेज क़दमों से वो दौड़कर चल दिया
काट उस डाल को, जिसने था फल दिया
घर ये हैरान है, सब परेशान हैं
आख़िर ज़ख़्मों को क्यूँ नोच खाता रहा
वक़्त हँसता रहा...

अपनी मिट्टी को छोड़ा शहर के लिए
चाँद निकला था बस इक पहर के लिए
वो आसमाँ की उड़ानों में मशग़ूल था
बूढ़ा बरगद कहीं बड़बड़ाता रहा
वक़्त हँसता रहा...

जो मायूस ख़्वाहिश दबी थी कहीं
सहमी अब दुबक के छुपी है यहीं
जबसे जाना ऐ मौत, तेरे फरमान को
दिल, सीने से निकला और जाता रहा
वक़्त हँसता रहा मुस्कुराता रहा...

यादों के लेटर-बॉक्स में

जो किताबें कह नहीं पाती
वो पाठ अनुभव सिखाता है
जीवन की भूलभुलैया में
कोई बैकग्राउंड स्कोर-सा
बजता है पुराना संगीत
ज़िंदगी के पहाड़े अब
उल्टे ही चला करते हैं
रंगहीन दुनिया में असंभव है
जीवन का गणित समझ पाना
कठिन है पहचान अपनों की
कि हर परिस्थिति में
बदले जाते हैं नियम

चरमराहट की
खीजती आवाज के साथ
खुलते हैं दिलों के
सुस्त दरवाज़े
चेहरे पर
बोझ की तरह
लटकी हँसी
करती विवश अभिवादन
पर चुगलख़ोर आँखों से
झाँक ही जाती असलियत
कि इंतज़ार यहाँ
था ही नहीं कभी
सूना मन-आँगन
स्वीकारता नियति
पर दुःख ज़िद्दी बच्चे-सा
चला ही आता है
यादों की ऊँची मेड़ को

फलाँगते हुए

है विडंबना कैसी
कि सब कुछ
जानते-समझते हुए भी
इंसान, उम्र-भर पलटता है
वही भीगे पन्ने
जिनकी एक्सपायरी डेट बीते
बरसों बीत गए
न जाने क्यों
यादों के लेटर-बॉक्स में
भीतर से कुंडी नहीं होती।

मुस्कुराहटें बाक़ी हैं अभी

दोस्तों की पहचान, अब पहले-सी आसान नहीं
ज़िंदगी हम पर इस क़दर भी मेहरबान नहीं
पल में अपने, पल में पराए से लगते हैं सभी
लोगों की भीड़ में वो, अपनों-सी मुस्कान नहीं

ये कैसे रिश्ते, कैसी उलझनों के बुने हैं धागे
हुनर तो सबमें है, पर कोई भी क़दरदान नहीं
क्यूँ हादसे हुआ करते हैं मोड़ पे ही आकर अक़्सर
घायल तो हुए हैं, पर दिखते लहूलुहान नहीं

बहुत कुछ खोया और पाया भी है हमने लेकिन
ज़िंदगी परेशान है कि हम क्यूँ परेशान नहीं
मिलोगे राहों में, तो यूँ ही मुस्कुराएँगे अक़्सर
न समझ ले ये दुनिया कि 'पत्थर' हैं हम 'इंसान' नहीं।

उम्र के चार दशक

वो खाते समय सोचती नहीं
और सोचते हुए खाती जाती है
लगाती है दिन-भर का हिसाब
बच्चों का होमवर्क, प्रोजेक्ट
घर-बाहर के ढेरों काम
झूलती है निरंतर बजती
दरवाज़े की घंटियों
और मन की आवाज़ों के बीच
पड़ोसिन, कोरियर, सब्ज़ीवाला
सेल्समेन, पस्ती, चंदा
कभी ज़रूरतमंद तो कभी
मोहल्ले के शैतान बच्चे भी
गाहे-बगाहे बनवा ही देते हैं
एक अंतहीन सूची
अनियमित क्रम की
नियमितता को
निरंतर बनाए हुए

मुस्काती हुई, करती है
सबका स्वागत
दो हाथों के साथ ही
चल रहा काम
छब्बीस जगहों पर
टेलीफ़ोन को
गर्दन में अटकाकर
दौड़ते हुए दे आती है
प्यासे पौधों को पानी

चहकती हुई चिड़िया
और फुदकती गिलहरी में

तलाशती है बचपन
सूँघ लेती है, चुपके से
अपने ही बग़ीचे का कोई फूल
पुराने गीतों को सुनते हुए
खो जाती है कहीं
और फिर बड़बड़ाते हुए
अपने-आप पर
करती है साफ़
गैस का चूल्हा भी

उठा लेती है
ज़मीन पर भिनकता
बदबूदार मोजा
बिना नाक सिकोड़े
खीजती नहीं
सुखा देती है
आश्चर्यजनक स्थानों पर पड़ी
गीली तौलिया, बिन बोले

अलगनी में उलझती बेलों को
सुलझा देती है
बग़ैर किसी सहायक
समेटती है, यहाँ-वहाँ बिखरे
चंद अरमानों को
सिंक में पड़े बर्तनों के शोर के बीच
होती है बेहद उदास
पर अपेक्षा नहीं करती
बेहूदा स्वप्न नहीं धरती
न आईने में निहारती ख़ुद को
न कभी सजती-सँवरती

डूबते हुए दिन के
गालों की लाली को
कैमरे में क़ैद कर
महसूसती है 'रोमांस'
तितलियों की उड़ान
उसे रोमांचित नहीं करती

वो समझ चुकी है
जीवन की शर्तें

दिल के मनों बोझ पर
मुस्कुराहट का
झीना आवरण ओढ़ाकर
देती है प्रमाणपत्र
अपने जीवित होने का
हँसती है, हर बेतुकी बात पर
ठहाका लगाकर
कि हारी नहीं अभी ख़ुद से

थका हुआ तन-मन
और शरीर में बिगड़ता
हारमोनों का संतुलन
न जाने कौन
ज़िम्मेवार है किसका
कंधे उचकाकर, चुपचाप
गटक लेती है
एक-एक टेबलेट
सुबहो-शाम

ख़त्म हो जाती है, ऐसे ही
जीवन की हर साँझ
अब इन अधकच्ची नींदों में
इंतज़ार की सुबह नहीं होती
और अंधेरा खुलने के ठीक पहले
यक़ायक़ ही
शुरू हो जाता है
एक और लापरवाह दिन
उम्र के चार दशक
पार करती औरत का।

पढ़ना चाहोगे

कविता नहीं है मात्र
प्रेम और बिछोह की
स्वादिष्ट चटनी
नोचना होता है इसमें
हर गहरा घाव खसोटकर
कि रिसती रहे पीड़ा
और जीवित रहे भाव
जीनी होती है
एक मरी हुई ज़िंदगी दोबारा
खींचकर लाना होता है
किसी कोने में दुबका, सहमता
असहाय बचपन
खोलना होता है
जबरन भींचा गया मुँह
करनी होती है निर्वस्त्र
उसकी हर पीड़ा

आवश्यक है दिखाना, दुनिया को
एक स्त्री की नीली पड़ी पीठ
और जाँघों से रिसता लहू
ख़ून के आँसू पीते हुए
हँसना होता है
लोगों के हर भद्दे मज़ाक़ पर
देखना होता है, कातर आँखों से
अपने ही शहर के चौराहे पर
मौत का भीषण तांडव
और गलियों में
टुकड़े-टुकड़े हो रहा धर्म
इंसानों की शक़्ल में
बर्फ़ होता शरीर या कि

बेबस मानवता की लाश
अंतिम-संस्कार किसका है?
कौन तय करे?

मारना चाहोगे न
अब तो, एक करारा तमाचा
अपने ही समाज के गाल पर
हाँ, हँसेंगे कुछ कायर वहाँ
तुम्हारे इस मूर्खतापूर्ण कृत्य पर
तुम फिर सहलाते हुए
अपनी ही झुकी पीठ को
नम आँखों से
माँगोगे मुक्ति
फोड़ोगे सर दीवारों से
कि ख़त्म हो सके
हृदय की हर संवेदना
और फिर न बन सके
कवि कोई

अभिव्यक्ति को
शब्द-संयोजन में गढ़कर
परोस देना भर ही
नहीं है कविता
मेरी समझ में
"यह एक नृशंस हत्या है
कवि की
रोज़ अपने ही हाथों।"

उम्मीदों का पैराशूट

उम्मीदों का पैराशूट
भटकता दिन भर
तलाशने को
सुरक्षित ज़मीं
भर लाता थोड़ी
चिलचिलाती धूप
तो कभी
बादलों की टोकरी
साँझ होते ही आ गिरता
अपनी ही हसरतों की ज़मीं पर

चुपचाप उलट देता
उन क़दमों की जमापूँजी
और माथे से छलकते
नमकीन श्रम कण
बाँधता मायूसियाँ
फिर हर काली रात
जला देता
कोशिशों का एक और दीपक

शेष है अभी उसकी उड़ान
पर पैरों तले
दलदली भूमि
बेमौसम बरसातों और
वक़्त की आँधी में
भटक रहा कारवाँ
चलने को
वही बित्ते भर ज़मीं
और पाना चाहे
चाहतों का आसमाँ।

कौवे

डूबती साँसों की निगरानी करते
समझदारी के कौवे अब
सबकी निगाहों से बचकर
लीलने लगे हैं ज़िंदगी क़तरा-क़तरा

वो ज़िम्मेदारियों को
अपनी सलामती का ज़िम्मेदार ठहरा
निश्चिंत होना चाहती है
कि इनके मज़बूत हाथों ने ही
गाड़े रखा होगा उसे ज़मीन में कहीं

चंद तस्वीरों पर
ठहरी हुई निगाहें
खिसियानी बिल्ली-सी
शुक्रगुज़ार होने लगती हैं
उन ऋणों की भी
जिनसे मुक्त होना बाक़ी है अभी

वो मर्यादा के खोखले
सुरक्षा-कवच की आड़ में
महान नहीं बनना चाहती
जो चीर देता है
भीतर-ही-भीतर

ज़िम्मेदारियाँ भी, ख़ैर
कोरी कायरता पर
आह भरते हुए
चंद शब्दों की चाशनी का
लिजलिजा लेप ही तो हैं

न रहे भरम का चिह्न भी शेष
तो आवश्यक है
इसी जन्म में
हर ऋण से मुक्त हो जाना

पुनर्जन्म, फिर मिलेंगे
रिश्ता जनम-जनम का
पक्का वादा, सच्चा प्रेम
सब विषय हैं असल चरित्रों की
झूठी, भ्रामक कविताओं के
वास्तविकता के धरातल पर
ये ठगी और
भावनात्मक खेल के सिवा
कुछ भी नहीं

सब कुछ जानते-समझते हुए
जीना होगा उसे फिर भी
जब तक हर बोझ
हल्का न हो जाए
या फिर ढोना भारी न लगे।

स्त्री- तुम यूँ भी हो कहीं

तुम माँ के हृदय में उपजी
एक मासूम अकुलाहट हो
क़र्ज़ के डर से कँपकँपाते
ग़रीब पिता की धौंकनी-सी चलती
विवश, लाचार छटपटाहट हो

ओह्ह! अस्पताल के पिछवाड़े
किसी नाली में चीखती असहाय पोटली
सुनो
तुम चरमानंद अनुभूति के प्रतिफल से
उत्पन्न हुआ पाप भी हो सकती हो किसी का
उनके लिए तुम
दोगले समाज के डर से फेंकी गई
भयभीत, मजबूर घबराहट हो

तुम विषय हो विमर्श का
प्रगतिवादी, बुद्धिजीवी चर्चाओं में
तुम्हारे ख़ूब जलवे हैं, इन दिनों
अब ये जानकर तुम और भी मर जाना
कि जो नहीं देना चाहते जन्म तुम्हें
उनके लिए मंदिरों में
तुम ही माता
धन, ज्ञान, बुद्धि की मूरत
पूजनीय, शक्तिशाली देवी
श्रद्धा, शृंगार, पुण्य सजावट हो।

आश्चर्य में हो तुम

आश्चर्य में हो तुम?
मूर्खता की पराकाष्ठा
या विशुद्ध भ्रम
कि आँखों पर बँधी पट्टी देख
कोस रहे हो व्यवस्था को
ये अद्भुत व्यवस्था अंधी नहीं
बल्कि एक क्रूर सुनियोजित
षड़यंत्र है उस अंतर्दृष्टि का
जो महलों में निर्भीक विचरते
सँपोलों के भविष्य की सुरक्षा को
मद्देनज़र रख
सदियों से रही आशंकित

वही सँपोले जिनके जन्मदाता ने
दे रखा उन्हें आश्वासन
उनके हर जघन्य कृत्य को
बचपने की पोटली में
लपेट देने का
वो हैं आज भी उतने ही
निडर, बेलगाम, सुरक्षित
शोषण करने को मुक्त

बालिग और नाबालिग
हास्यास्पद शब्द भर रह गए
जिनका एकमात्र प्रयोग
वोट डालने औ' घड़ियाली आँसू बहाने की
पारंपरिक सुविधा के अतिरिक्त
और कुछ भी नहीं
वर्ना हर वयस्क अपराधी
क़ैद होता सलाख़ों के पीछे

दरअसल देव-तुल्य हैं
कुछ मुखौटाधारी
और विवश जनता को देना होता है
अपनी आस्था और आस्तिकता का प्रमाण
कि सुरक्षित बने रहने की उम्मीद में
अब भी यहाँ
नाग-देवता की पूजा होती है।

रहता है

रहता है यूँ तो मुझमें ही कहीं
पर आजकल तू दिखता ही नहीं

जिसकी चाहत में मर-मिटी दुनिया
वो काफ़िर बाज़ार में बिकता ही नहीं

तन्हाई में पलकों से गिरा देता है
दुःख-दर्द अपने लिखता ही नहीं

कैसी मजबूरियाँ है इश्क़ की
और गहराता है मिटता ही नहीं

जमा बैठा है रगों में सहमा हुआ
लहू अब किसी का रिसता ही नहीं

हक़ीक़त से रूबरू हुआ, मर गया
ख़्वाब इन दिनों कोई टिकता ही नहीं।

कुछ तो है कहीं

कुछ तो है कहीं, ये जो थोड़ा प्यार-सा है
नशा है तेरा, चाहत या इक ख़ुमार-सा है

मिला करता है मचलकर रोज़ ही मुझसे
रहता बेवक़्त फिर भी तेरा इंतज़ार-सा है

न बीता कोई भी लम्हा इस तरह पहले
जिस तरह दिल अब मेरा बेक़रार-सा है

महसूसा तुझे मुझमें ही कहीं हर मर्तबा
बहता मेरी रग-रग में तेरा दीदार-सा है

छू गयी आकर कुछ ऐसे ये दस्तक तेरी
इन साँसों में ही इस जीस्त का दरबार-सा है

तू ही सुकून, है ख़्वाहिश, चैनो-अमन मेरा
मेरी हर नब्ज़ को समझता, चारागार-सा है।

इंसानियत का

इंसानियत का ऐसा कायापलट हो गया
साया भी तिलमिलाकर एक करवट हो गया

जाया हुई हर पूजा नाहक़ जलाई बत्ती
काग़ज़ी ख़ुशबू से काम झटपट हो गया

बहती हुई थी नदिया मैला किया सभी ने
दाम लगे जबसे बोतल में पनघट हो गया

दौरे-वफ़ा नहीं अब, नुक़सान है नफ़ा है
ओहदे को मापकर ही अपनों का जमघट हो गया

बाज़ारे-इश्क़ में तू जाहिल भला क्या समझे
रिश्तों का मोल कबसे बस एक सिलवट हो गया

हँसता रहा जो अब तक, ज़िंदादिली थी बाक़ी
टूटा कुछ इस तरह से ख़ुद मरघट हो गया।

ये कौन है

ये कौन है जो ज़ेहन से जाता नहीं
ये कौन है जो मुझको बुलाता नहीं

सर्द हुए अश्क़ तन्हाई घोल के
नया दर्द दिल में समाता नहीं

रक़ीबों के क़िस्से कोई किससे कहे
हबीबों से भी अपना नाता नहीं

वो ज़िंदा रहेगा यादों में मेरी
जो हँसकर गले अब लगाता नहीं

दे इल्ज़ाम सर पे, रुख़सत हुआ
गुनाहों की सूरत बताता नहीं

ज़ख़्म हर क़बूल, शिकवा किसी से क्या
लकीरें ख़ुदा कुछ बनाता नहीं।

अंत तक

अंत तक आँखों में सवाल रह जाता है
ज़िंदगी के बाद भी मलाल रह जाता है

दिल की दीवारों पे कहीं सीलन-सी जमी
दर्द दिखता नहीं जाने कहाँ बह जाता है

हैं यादें ही साथ, मुनासिब यही रहा होगा
वक़्त बदलते ही हाथ क़िस्सा रह जाता है

दिल की ज़ुबाँ से जब गुमशुदा हुए लफ़्ज़
तमन्नाओं के मकान में एक घर ढह जाता है

धुआँ-धुआँ उड़ता रहा, जलता हुआ शरीर
राख़ के ढेर में बचा इम्तिहान रह जाता है।

आज फिर

आज फिर आँखों में कुछ पानी-सा है
दिल का वही कोना अब भी ख़ाली-सा है

अजनबी पे इल्ज़ाम लगाना फ़िज़ूल था
हर रिश्ता ही निकलता यहाँ जाली-सा है

लहू बन के जो रिसता है घावों से अक़्सर
वही दर्द बस अपना बाकी ख़्याली-सा है

दरिया किनारे हैराँ तमाशाई-सी ज़िंदगी
हाल ख़्वाबों का इन दिनों सवाली-सा है

तन्हाइयों की शाम रोशन कहाँ से हो
रखने पड़े हैं रोज़े, माहौल दीवाली-सा है।

मुश्किल है

मुश्किल है चुप बैठे रहना
मुश्किल है अब कुछ भी कहना

मुश्किल है अब वार न होगा
मुश्किल है चुप होकर सहना

मुश्किल झूठों की बस्ती में
अबके सच का ज़िंदा रहना

मुश्किल है हर सुबह हसीं हो
मुश्किल ग़म में आँसू बहना

मुमकिन है हर बार ही झुकना
मुश्किल है फिर ज़िंदा रहना

मुश्किल ग़ैर कोई आ जाये
मुश्किल सबको अपना कहना।

हर दिन

हर दिन एक अफ़साना
हर दिन बदलता ज़माना

हर दिन वही उम्मीदें
हर दिन वही ठुकराना

हर दिन डूबी साँझ
हर दिन बेबस मुस्काना

हर दिन इक दुआ
हर दिन टूट जाना

हर दिन जन्मीं ख़्वाहिशें
हर दिन बिखर जाना।

कुछ तो

अबके कुछ तो ख़ास हुआ है
जीने का एहसास हुआ है

चोरों ने फिर बदली वर्दी
देश में फिर बदलाव हुआ है

ख़ूब बँटी है रात में दारू
क्या कोई चुनाव हुआ है

रोया है बारिश में नहाकर
खेत कोई बर्बाद हुआ है

इसको मत दौलत से तौलो
रिश्ता कब नीलाम हुआ है

चाल इश्क़ में चले सियासी
कौन यहाँ आबाद हुआ है

लहू रिस रहा तिरंगे से
सरहद पर संवाद हुआ है।

मिलना तो मेरा तय ही है तुमसे

मिलना तो मेरा तय ही है तुमसे
इस बार नहीं, तो न सही
अगले जन्म में, फिर लौटकर मैं आऊँगी
पसर जाऊँगी, बिन बुलाए ही
सर्द से उस मौसम में
तेरे आँगन की धूप बनकर
या बरस जाऊँगी कभी
बारिश के चमकीले मोतियों में ढलकर

हो सका तो वृक्ष ही बन जाऊँ कभी
तेरे उस पसंदीदा गुलमोहर का
जिसे रोज़ ही देखने का मोह
तब भी न छोड़ पाओगे तुम
बैठोगे कुछ पल तो साथ मेरे
यूँ कहने को, बैरी दुनिया के लिए
बस वहाँ सुस्ताओगे तुम

क्यूँ न बनूँ मैं ‘सूरजमुखी’
जो खिल जाए, रोज़ ही तुम्हें देखकर
या कि बन छुईमुई, लजा के कभी
ख़ुद ही में सिमट जाऊँगी
ओढ़ा दूँगी आवरण, तेरे दुखों को
बादलों-सी छाया बन
और नदिया-सी बह, तेरे आँसुओं को
ख़ुद में ही समा ले जाऊँगी
भर दूँगी हर रंग तेरे जीवन में
सदियों के लिए
चाहत की गर्मी से अब
हर ग़म तेरा पिघलाऊँगी
ऐ मीत मेरे, ये प्रीत तेरी

सदियों से है, सदियों के लिए
यूँ जाना अभी तय है मेरा
बस साथ हूँ, कुछ पल के लिए
है ग़म तो बस यही कि ये दम
तेरे पहलू में ही निकले तो बेहतर होता
न होता कुछ भी पास हमारे
बस इक पल को ही सही
पर साथ ये मुक़द्दर होता

न करना तू अफ़सोस, इस ज़माने का
इसका तो काम ही है, आज़माने का
पर वादा है मेरा, अब भी तुझसे
बन हर रंग तेरे जीवन का
इंद्रधनुष-सी तेरे आसमान पर छा जाऊँगी
मिलना तो मेरा तय ही है तुमसे और तब
तेरे कहने से भी, वापिस नहीं फिर जाऊँगी।

मेरे वो ख़त

भेजे थे तुमको कुछ मैंने
रातों को गिन-गिन तारे
फिर बैठी थी उम्मीदों में
अब तू मेरा नाम पुकारे

माना कि दूरी है थोड़ी
पर हममें कुछ गिले नहीं हैं
मेरे जो नन्हे से ख़त थे
क्या वो तुमको मिले नहीं हैं?

छुप-छुप कर देती हूँ तुमको
तेरा मुझ पर जो अधिकार
यूँ बाक़ी है चाह अभी ये
क़दमों में भर दूँ संसार

पहले थी जो झिझक गई अब
लब पहले से सिले नहीं हैं
मेरे वो नन्हे से ख़त क्या
अब भी तुमको मिले नहीं हैं?

नैनों के अंतस से निकली
सारी किरणें तुम तक भेजी
पैग़ाम तेरा अब तक न आया
हमने सारी उम्र सहेजी

जीवन के आख़िरी चरण में
पहले से वो सिलसिले नहीं हैं
एक बार अब आकर कह दो
सच में, वो ख़त मिले नहीं हैं!

पूरा फ़िल्मी है

समंदर किनारे बैठे
तुम और मैं
सुनेंगे धड़कनों के गीत
अपने मन की ताल पर

हेडफ़ोन का एक-एक सिरा
कानों में ठूँसकर
देंगे विदा दुनिया की
बेहूदा आवाज़ों को

बाँध लेंगे हौले से
मुट्ठी भर सपना
हाथों को पीठ पीछे
चुपके से बाँधकर

गिनेंगे एड़ियों तक
छूकर लौटती हुई
अनगिनत इच्छाओं की
बेचैन लहरों को

दूर आसमाँ से टकराता
भावनाओं का ज्वार
देगा भ्रम मिलन का
इधर, चुप्पी ओढ़ लेगा हृदय

नाराज बच्चे-सी, समेटनी होंगी
बेबस मन की तसल्लियाँ
हक़ीक़त की क्रूर दुनिया में
बस यही मायूसी तो मुमकिन है

रेत पर लिखे दो नाम
मिलते हैं, एक-दूसरे से
फिर हो जाते हैं ओझल
न जाने किन दिशाओं में

चीखती-चिल्लाती स्मृतियाँ
वक़्त के बहाव को
टुकुर-टुकुर देख
बदल लेती हैं, अपनी करवटें

हम्म, यही सच है
जीवन का
बाक़ी सब तो
पूरा फिल्मी ही
है, न?

मेरी दुनिया

देखते हुए तस्वीरें
चेहरे की माँसपेशियाँ
करतीं हँसने की
नाकाम चेष्टा
पलटतीं, कसमसातीं
भीतर सिहराता दर्द
तलाशता शून्य में
खोया हुआ कुछ
और एक आवाज़ सुनते ही
सब शिथिल
विलुप्त, गड्डम गड्ड
गोया स्मृतियों को भी
एकांत की गुज़ारिश
तभी तो झुंझला गईं
यूँ अकस्मात्
सिमट जाने से

आकाश में जगमगाता
एक ध्रुवतारा
या ज़मीं की ओर
बढ़ता कोई सितारा
कभी अपना नहीं होता
सब भ्रम है, झूठी तसल्लियाँ
चाँद को देखने से भी कहीं
दूरियाँ मिटती हैं भला
हाँ, सुखद है
ये काल्पनिक उपस्थिति
गर मृत्यु-आलिंगन
सुनिश्चित करता
क्षण भर का भी दृष्टिभ्रम

तो जीवित रहना
निरुद्देश्य था

पर रहना है
रहना ही होगा
उसने कहा था
‘मेरे जाने के बाद ही
समझ सकोगी दुनिया को’
मैं चुप थी
शब्दों की भाव भंगिमा ने
अनकहा भी कह डाला
समझ गई, ये सूचना भर है
‘जाना’ तय हो चुका
भावों को मोतियों में पिरोकर
रोकती रही टूटकर बिखरने से
सिर झुकाए
समेटती रही
अपनी ही यादों का कफ़न
और कितनी दफ़ा कहती
“मेरी दुनिया तुम हो
उसके पश्चात् समझने को
अब शेष रहा भी क्या।”

आख़िरी ख़त

तुम्हारे नाम का आख़िरी ख़त
न जाने कितनी बार
लिखा, मिटाया
हर बार जताना चाहा
अपना ग़ुस्सा
पर कुछ इस तरह
कि तुम
उदास न हो जाओ कहीं
मैं जानती हूँ
तुम जानते हो
दिल जानता है
उदासियाँ व्यर्थ हैं!

मात्र उदास हो जाने से ही
नहीं बदल सकती होनी
होता है कहीं कुछ
तो इन उदासियों का
ख़ामोशी से
मायूस समर्पण
मायूसी का भँवर
निगल लेता
एक ही झटके में
पर डुबोता धीरे-धीरे
कि दर्द की तलहटी में
सहम बैठ जाए
उम्मीदों का कलेजा
और डूबते-उतराते
निर्जीव हो, बिखरने लगें
इच्छाओं के पर
यक़ायक़ खो गए

शब्दों के मायने
सुर्ख़ यादें, झर रहीं
पीले पत्तों-सी
व्यथित हृदय
पूछता सवाल
दोषी कौन?
बहते जवाब
अर्थ बन
मुर्दा आँखों से

अथाह सागर
खोया किनारा
हतप्रभ लहरें
न समझ सकीं
कब लौटने लगे
शिकायतों के पाँव
अनधिकृत क्षेत्र में
प्रवेश, वर्जित देख
ठगी-सी खड़ी
इक बँधी मुट्ठी में
अब तक भौंचक
'आख़िरी ख़त'
कसमसाया और
पुर्ज़ा-पुर्ज़ा हो
गलता रहा वहीं
इधर टुकड़ा-टुकड़ा मन
फैलने लगा
काग़ज़ों पर।

स्त्री-विमर्श

औरतें रोतीं, गातीं
बात-बेबात ठहाका लगातीं
कभी करती हैं, बुराइयाँ
दूसरी औरत की
और कितनी ही बातें
अनदेखी कर जातीं
'तुम बोलती बहुत हो'
सुनकर अक़्सर मौन हो
छुपा लेतीं हृदय की उथल-पुथल
स्वयं को थोड़ा व्यस्त दिखातीं

हाँ, रोती है बेतहाशा हर औरत
जब भी वो देखती, सुनती या पढ़ती
देह शोषण, मानसिक उत्पीड़न, दहेज़
बेशुमार अत्याचार की ख़बरें
तुम हँसकर उस पर लगाते हो
संवेदनशीलता का ठप्पा
पर दरअसल कोशिश है ये
विषय बदलने की
क्योंकि भय है तुम्हें
कहीं उसके अंदर की स्त्री
बग़ावत न कर बैठे
और वो यही सोच लगाती है
हिचकियों के बीच अकस्मात
एक ज़ोरदार ठहाका
अपने ही रोने पे
कि तुम निश्चिंत हो जी सको

बुराई करना, उसके असुरक्षित होने का
पहला प्रमाण ही सही

देखो लेकिन, कहीं तो है
कुछ टूटा-सा
सच है, कि ‘वो बोलती बहुत है’
तो फिर उसके भीतर की घुटन अब तक
क्यूँ न जान सके तुम?
क्योंकि इतना बोलने के बाद भी
वो कभी कह ही नहीं पाई
कुछ ऐसा
जिसे तुम बर्दाश्त न कर सको

कहने को बदला है समाज
बदल रही, नारी की स्थिति
रोज दिखता है, हर नये चौराहे पर
चाय की चुस्की के साथ ‘स्त्री-विमर्श’
पर हो सके तो कभी गुज़रना
इन ‘परजीवियों’ की गलियों से
गाँव ही नहीं, शहर भी जाना
महसूस करना नित नये गहने पहने
महँगी गाड़ियों में रौब मारती हुई
इन सक्षम औरतों की असमर्थता
जिन्हें मालूम है कि
जब-जब हुआ अस्तित्व के लिए संघर्ष
और उद्घोष किया गया मौलिक स्वतंत्रता का
ठीक तभी ही, एक ‘घर’ टूटा है।

* सब जानते-समझते हुए भी चुप है औरत।

देखा है

दुनिया को बदलते देखा है
अपनों को मुकरते देखा है

बेबस दिल पर, कब क्या गुज़री
उनको इससे अब फ़र्क़ नहीं
रोया करते जिनके ग़म में
उन्हें हम पर हँसते देखा है।
दुनिया को

मतलब जिससे, जब भी निकला
उनकी मुस्कान वहीं पहुँची
जिसका पलड़ा भारी देखा
उस ओर सरकते देखा है
दुनिया को ...

जिनके नज़दीक न जाने की
पुरज़ोर हिदायत आती थी
आज उन्हें चुपके से ही
उनकी गलियों में देखा है
दुनिया को ...

जब हृदय की पीड़ा भारी थी
घायल मन की लाचारी थी
उनके शब्दों में दर्द नहीं
नफ़रत को उगलते देखा है
दुनिया को ...

जीवन भर का इक वादा था
पर नेक न उसका इरादा था

ज़िस्म वही, धड़कन बदली
रूहों को बदलते देखा है

दुनिया को बदलते देखा है
अपनों को मुकरते देखा है।

एक शहर

एक शहर
जैसे ठहर गया आँखों में
जहाँ सुबह-सुबह
काँच के गिलास में भरी
मसाला चाय के साथ
तोड़ती हूँ उन
अनमनी पलकों के पल्लड़
छनने लगती है मन की दरारों से
हौले-से सरकती
गुनगुनाती, मुस्कुराती धूप

एक सख़्त दोपहरी में
हिदायत भरी बेचैनियाँ
कर देती हैं दरकिनार
उल्फ़त की हर एहतियात को
मचलते ख़्वाबों की कसमसाहट
ज़ाहिर हो
ऐन उसी वक़्त
तीखे शब्द बुझा देते
उठता हर वाजिब धुआँ

साँझ ढलते ही
भीगता कोई
अपने ही लफ़्ज़ों की
मनहूस-सी
बेक़रार बारिश में
और डूब जाता चुपचाप
तन्हाई को
बग़ल में दबोचकर
कि अब यूँ ही गुमशुदा होगा

हर ख़यालात
बयाँ न हो पाने की
कसक लिए हुए

मन के आँगन में
रोज़ ही खड़ा होता है
इक शहर बीता हुआ
और रात के ख़्वाबों-सा
सुबह ढूँढ़े नहीं मिलता।

अनुपम पल

कितना मनोहारी होता है
दिनकर की किरणों संग
सूरजमुखी का खिल जाना
शीत ऋतु में उन्मुक्त हो
हरसिंगार का बिखर जाना
जूही की बेल का
तने से यूँ लिपट जाना
और मुंडेर पर बैठी चिड़िया का
सुबह-सुबह चहचहाना

अच्छा लगता है...
समुद्र-तट पर लहरों का
बेताबी से टकराना
दूर कहीं क्षितिज पर
धरती-आकाश का मिल जाना
सूरज के छुपते ही
चंदा का मचलकर आना
और अमावस की रात में
सप्तऋषि का टिमटिमाना

चैन-सा मिलता है...
देख गिलहरी का
कुतुर-कुतुर करके खाना
और चोंच डुबोकर, चिड़िया का
प्यार से पानी गटक जाना
सच, प्रकृति के आँचल में
कितने अनुपम ये पल हैं
पर इन सबका संगम है
'तेरा हौले से मुस्काना।'

शब्द-सेतु

तुम्हारे और मेरे बीच
एक सेतु हुआ करता था
जिस पर चलकर रोज़ाना ही
विश्वास की गहरी नींव
और स्नेह-जल की फुहारों में
गोता खाते हुए हमारे शब्द
मचलकर एक-दूसरे तक
पहुँच इठलाया करते थे
बहुत गुमान था हमें
कभी भी इसके न टूटने का
यूँ तो था ये केवल अपना ही
पर अपनेपन में, हमने गुज़रने दिया
कुछ अंजान लोगों को भी इससे होकर
वह दौर ही कुछ ऐसा था
जहाँ आभास तक न था
किसी की मंशा और इस संशय का

धीरे-धीरे न जाने कितने मुसाफ़िर
चलने लगे, आम रास्ता समझ
हाँ, बहुत ख़ास था ये
बस मेरा-तुम्हारा
पर होता गया मलिन
लोगों की बेरोक-टोक आवाजाही से
भरते रहे सब अपने विचारों की गंदगी
बढ़ता ही गया, अनपेक्षित भार

देखो न, आज जब वही लोग
इस पर हँसते-गुनगुनाते
नज़र आते हैं, तब
हमारे लिए कमज़ोर हो

डगमगाने लगा, ये शब्द-सेतु
और अब, मैं और तुम
बैठे हैं, इसके दोनों सिरों पर
अलग-अलग, बेहद उदास और गुमसुम
भयभीत हैं, उस मंज़र की कल्पना से ही
जब हमारी आँखों के सामने
हमारा अपना ‘स्नेह-पुल’
मात्र शब्दों के अभाव में, सिसकता हुआ
चरमरा कर दम तोड़ देगा।

मैं कहीं हूँ ही नहीं

मैं कहीं हूँ ही नहीं
न दिल में, न ख़्यालों में
न बातों में, न जज़्बात में
न दोष दूँगी तुझे तन्हाई का
मैं ख़ुद ही कहाँ अपने साथ हूँ

दर्द में जो अक़्सर बरसती हैं
बीते लम्हों को जो तरसती हैं
गिरा करती हैं अब बेवजह भी
बस वही बे-मुरव्वत बरसात हूँ

ज़माने की चालों से डर गया
कोई कहीं जीते-जी मर गया
थामा होगा किसी मजबूरी में
छूटा हुआ वही अजनबी हाथ हूँ

शुरू हुई थी जो मचलकर कभी
निकली है ज़ुबाँ से संभलकर अभी
जो तुम कहकर भी पूरी न कर सके
छटपटाती हुई वही अधूरी बात हूँ।

छटपटाहट

श्वासों का आवागमन
झील भरे ये दो नयन
सन्नाटों से भौंचक हो
आवाहनित नव-आंदोलन

मस्तिष्क-पटल करे गर्जन
मेघों-सा भीषण ये क्रंदन
हृदय विदारक पीड़ा से
छलनी हुआ, जो था सघन

पर-वेदन से व्यथित हुआ
क्यूँ इतना संवेदित हुआ
प्रश्नों के चौराहे पर
किसका था ये आगमन

गहराई में आहट-सी
बस अंतिम छटपटाहट ही
प्राण-पखेरू उड़ने को
चीत्कारें भरता मेरा मन।

मृत्यु

मृत्यु
चंद साँसों का उकताकर
साथ छोड़ देना भर नहीं
और न ही है ये
किसी अजर, अमर आत्मा का
तफ़रीह के लिए
अनायास चले जाना
यह उतनी सरल नहीं
प्रायः जो दृष्टिमान है

प्रारंभ से अंत तक
समाप्ति के ठीक अंतिम चरण तक
जीना होता है संपूर्ण जीवन
हाँ, एक जरा-सा दिल टूटने पर
सहज ही आ जाता होगा तुम्हें
आत्महत्या का विचार
न संगी-साथी कोई
न सांत्वना देने वाला
स्वयं को इस दुनिया में
व्यर्थ, असमर्थ, नितांत अकेला पाते होगे तुम
क्योंकि तुमने देखे ही कहाँ अभी
असल दुःख

कभी किसी असहाय को
घिसटकर चलते देखा है?
तलाशा है मुँदी आँखों से
टटोलते हुए
कोई सुरक्षित कोना?
जाना है किसी पीड़िता की आँखें
हर वक़्त क्यूँ भरी रहती हैं?

आधे शरीर के गुज़र जाने पर भी
जीने की ललक से गुजरे हो कभी?
जानते हो, बूढ़ी आँखों की प्रतीक्षा
साँसों को क्यूँ नहीं कटने देतीं?
चौराहे पर बिलखते मासूम बचपन से
जीने की वज़ह
या सर पर ईंटें ढोते
पसीने से लथपथ चेहरों को
झिंझोड़कर जानना चाहा?
कि ये किससे शिकायत करते हैं?
कहाँ माथा पटकते हैं?
किस पर दोष मढ़ते हैं?
आख़िर ये सब हारकर क्यों नहीं मरते हैं?

धर्म

धर्म एक सुनहरा पासा है
जनता की आँख में झाँसा है

वोटों में बटोरी भीख यही
उम्मीद की हारी चीख यही

चौपड़ पे उछलती गोटी है
आहों से सुलगती रोटी है

कुर्सियाँ जमाए रखता है
अपनों का ख़ून ही चखता है

आक्रोशित बन सिहराता है
सरकार बनाता, गिराता है

चौबीस कैरेट का सिक्का है
मतलब के तुरुप का इक्का है

आस्था, विश्वास, अमानत है
दिखता लेकिन अब लानत है

कितनों को ज़िंदा जला दिया
कितनों का मुक़द्दर हिला दिया

करता अपनों का बँटवारा
इसकी शक्ति से जग हारा

ज़हर फैलाता लूट रहा

अज्ञात-सा दिल अब टूट रहा

ढूँढो ये किसकी करनी है
कब तक हमको ये भरनी है

आख़िर कब तक हम झेलेंगे
अपने ही देश से खेलेंगे

जागो, कि ख़त्म न हो जाओ
सम्भलो कहीं भस्म न हो जाओ

और कुछ नहीं

तुम्हें खोने का दर्द
अब भी रुलाता है मुझे
यूँ कहने को तुम मेरे
हुए ही कब
नर्म अहसास कोई
रूह में सलामत था कहीं
कुछ ख़ूबसूरत लम्हे
अनायास ही मुस्काते थे
मुझसे होकर

एकांत में भी
सुनाई देती थी
तेरे क़दमों की आहट
तस्वीरों में गूँजती रही
अपनी हँसी
एक जोड़ी आँखें अब भी
ताकती थीं, शरारत से
एक हथेली, उम्मीद से भरी
थी मेरी

वही नाम, वही शहर
वही तस्वीरें, वही मुस्कान
सब कुछ यथावत
गुम हुआ है कहीं
तो इन सबमें छुपा
मेरा वजूद
जो आज भी रोता है
फूट-फूटकर रोज़ाना
अपने न होने के ग़म में
अब रोज़ ही अकेले

तय कर लेती हूँ हर दूरी
कि ख़ुद से हारी हूँ

ज़िंदगी से नहीं
एक इंतज़ार, एक दर्द
एक मायूसी, एक बेबसी
और इन सबमें लिपटी
वही चिरपरिचित कसमसाहट
अब भी ले रही साँसें
इसी अफ़सोस के साथ
काश! तुम समझ पाते
कि कुछ नहीं चाहती
कोई औरत
सिवाय एक तसल्ली के।

अब डर नहीं लगता

अब डर नहीं लगता
ज़िंदगी या मौत से
ये तब ही होता है
जब हमारे न होने पर
किसी और की
सलामती की फ़िक्र हो बाक़ी
या फिर फ़र्क़ पड़ता हो
किसी को हमारी
ग़ैर-मौजूदगी से

पर एक दिन
छन्न-सी आवाज़ होगी
भीतर ही कहीं
और टूट जाएगा
सब भरम तुम्हारा
जान जाओगे कि
अविश्वास की पट्टी बाँधे
एक-एक कर
सभी करना चाहते
तुमसे उम्र-भर को किनारा

हाय, दुर्भाग्य तेरा!
रह सकते हैं
सब तुम बिन भी
कुछ ज़्यादा ही आराम से
तो क्या, जो जी लिए
कुछ पल ख़ुशी के उन्होंने
तेरी सुबहो-शाम से
फ़िक्र न कर, उसके एवज में वो
तेरी ही पुण्यतिथि पर

छलका देंगे चंद आँसू, गाहे-बगाहे
पर इतना तो तय ही है कि
अब तुम्हें मौत से डर नहीं लगेगा

बहुत बुरा मंज़र होगा
कुछ दिनों के लिए
छलनी हो बिखर जो जाएगा
नाज़ुक ये हृदय तुम्हारा
होगी असह्य वेदना भी
छटपटाओगे दिन-रात, यादों के
उसी श्वेत ताजमहल में
जब-जब समेटना चाहोगे
स्मृतियों की उन किरचों को
उठेंगी कई घृणित निगाहें एक-साथ
कोसेंगी जी-भर के तुम्हें
फिर बिखरा देंगी
हमेशा के लिए
छिटककर और भी

मेरी मानो तो, छोड़ ही देना उन्हें तुम
जीवन का सबक समझकर
शायद कुछ वर्ष भी गुज़रें
बेहद उदासी और अवसाद में
कुछ लम्हे राहें भी तकोगे
उसी अनिश्चित आस में
पुरानी आदत जो ठहरी
सो झाँकोगे भी कई दफ़े
ना-उम्मीदी वाली उसी खिड़की से
जहाँ न कोई आया न आएगा
पर इस बार अकेले होकर भी
तुमको इस एकांत में डर नहीं लगेगा

फिर यूँ ही अचानक एक दिन
जीने लगोगे, एक मजबूर प्रण लेकर
हल्की सूनी, धीर-गंभीर, काली-गड्ढेदार
अधूरी इन्हीं आँखों में
मोतियाबिंद से वही इक्का-दुक्का

धुँधलाते हुए ख़्वाब समेटकर
रोया करोगे तन्हाई में भी कभी
आसमाँ-सी नीली तारों वाली
उसी पसंदीदा दीवार से
अपना बेबस माथा टेककर
ज़रा-सी आहट होते ही, पोंछोगे आँसू
ओढ़ लोगे नक़ाब तुरंत ही
उसी फीकी-सी हँसी का
मिलोगे मुस्कुराकर, इस बार भी
वही पहले की तरह सबसे

अहा! सामाजिक प्राणी भी तो हो
अब तो निभाना ही होगा अपना ये धर्म
हाँ, जीनी ही होगी ये दोहरी ज़िंदगी तुम्हें
पर हमेशा के लिए निश्चिंत
उम्मीदों से कोसों दूर
दफ़ना देना अपने सारे ख़्वाब
अपनी ही दिल की ज़मीं को खुरचकर
और देखना तब तुम्हें फिर कभी भी
मौत से डर नहीं लगेगा।

कोई एक दिन

कोई एक दिन
कोई तारीख़
कोई बरस
फैल जाता है
ता-उम्र
दलदल-सा
धँसते जाते हैं
और भी गहरे
कोशिशों के पाँव
ज़िद्दी मन
निकलने की
हर नाकाम कहानी
कहते हुए
अपने ही चेहरे पर
उलीच देता
अनुभवों की लिजलिजी काई
और डूबने लगता है कोई
धीरे-धीरे

कि यादें कड़वी हों
या सुनहरी
लिपटती जाती हैं
ज़िद्दी बच्चे-सी
पसर जाती हैं
मन की ज़मीं पर
लोटती, चीखती-चिल्लाती हैं

पसीजता हृदय
घबराकर
पोंछने लगता

हताशा के आँसू
उम्मीदों की धूल से
सनी स्मृतियाँ
अनायास
अपने ही चेहरे पे फेरती
मजबूरी की उँगलियाँ

आसान है कह देना
‘चले जाओ’
पर कोई, ‘जाता कहाँ है’
छोड़ जाता है इक हिस्सा
दर्द को सहलाने के लिए
गहराते हैं ज़ख़्म
कभी न भर पाने लिए

अंततः एक दिन
ख़ुद ही रीत जाता
इच्छाओं का समंदर
जिसमें तड़पकर
आस की अनगिनत मछलियाँ
चुपचाप दम तोड़ देती हैं।

युद्ध

ये ज़मीन तेरी
और ये मेरी
पर हम दोनों रहेंगे कहीं और
अलग-अलग
अपने-अपने घरों में
लेकिन बैठकर बनानी होगी योजना
एक-दूसरे की सीमाओं पर
क़ब्ज़ा करने की

गहन सोच का विषय
कौन किस पर कब
और कैसे करेगा प्रहार
लाने होंगे, गोले-बारूद, बम
सभी अत्याधुनिक हथियार
मैं जागूँगा कई रातें
तुझे उड़ाने के लिए
पर मुझे भी रहना होगा होशियार

उनके अपने क़ायदे-क़ानून
इनकी अपनी शर्तें
इन्हें उनका तरीक़ा नामंज़ूर
उन्हें इनसे ऐतराज़
चला रहे अंधाधुंध गोलियाँ
वहशी, दरिंदे, इंसानों के भेस में
क्या जीतना है?
किसका सच?
किसके लिए?
फ़ायदा किसे?
नुक़सान किसका?
सरकारें परेशान, लोग हैरान

अचानक बढ़ा दी गई
सीमा पर चौकसी
‘बड़े’ लोगों की सुरक्षा में
हुई और बढ़ोतरी
सब निश्चिंत, सुरक्षित
अपने प्रायोजित तंत्रों के खोल में

और दूर कहीं से आतीं
हृदय-विदारक चीखें
सुना तुमनें आर्तनाद?
इंसानी जद्दोजहद से अनजान
निर्दोष, मासूम बचपन
बाड़ के इस पार कूदता
अभी ज़ख़्मी हुआ
गिड़गिड़ाता रहा बिलखकर
और फिर निढाल हो
सो गया
चुनिंदा बेबस लाशों की शक़्ल में।

मैं और तुम

मैं और तुम
हम न बन सके
घुलता ही रहा
ढलता चला गया
मेरा वजूद
तुम में
होती रही दूर
अपने-आप से
कि पा सकूँ ख़ुद को
समझ ही न सकी
मेरे हर बढ़ते क़दम
तुम्हें और भी
पीछे ले जा रहे
जहाँ से देख सकते हो तुम
अनगिनत मैं
पर मुझे अब भी दिखते हो
सिर्फ़ एक तुम

ठिठककर चाहा मैंने
क्यूँ न अब तुम भी
चलो थोड़ा, मेरी तरफ़
बस यही ग़लती हुई मेरी
क्योंकि तुम तो वहीं थे
बस देखा किए
मेरा बढ़ना
लेते गये परीक्षा
खींचते जा रहे थे
सैकड़ों रेखाएँ
और मैं अबाध गति से
चली ही आ रही थी

बेझिझक, बेपरवाह

सो, लेना ही पड़ा तुम्हें फ़ैसला
चैन से जीने का
देखो न, अब सब कुछ
कितना सुंदर हो गया
तुम्हारे जीवन में
कोई काली छाया
अब मंडराती ही नहीं
ख़ुश हूँ, देखकर इस पुष्प के
आसपास उड़ने लगीं
नये ख़्वाबों की कुछ तितलियाँ

और आज जहाँ मैं हूँ
वहाँ से तुम तो
कब के चले गए थे
हम होना यूँ भी
मुमकिन न था
तुम, तुम ही रहे
और मैं ख़त्म हो गई
तुम्हें पाने की ज़िद में
तुममें ही कहीं सिमटकर।

चर्चा हो

ग़रीब की फटेहाली पर चर्चा हो
देश की बदहाली पर चर्चा हो

बेरोज़गार ख़ाली जेब पर चर्चा हो
नौकरी से मिले फ़रेब पर चर्चा हो

नारी की लुटती लाज पर चर्चा हो
कायर, झूठे समाज पर चर्चा हो

भद्दे, अश्लील सवालों पर चर्चा हो
ईमान के गंदे नालों पर चर्चा हो

पैसों से ख़रीदे मान पर चर्चा हो
नक़ली, झूठी शान पर चर्चा हो

टेढ़ी राजनीतिक चाल पर चर्चा हो
पनपते आतंकी भूचाल पर चर्चा हो

दलित के खोए सम्मान पर चर्चा हो
लटके वेतन के भुगतान पर चर्चा हो

धर्म के नाम खिलवाड़ पर चर्चा हो
राई के बनते पहाड़ पर चर्चा हो

बढ़ती हुई आबादी पर चर्चा हो
सिमटती हुई आज़ादी पर चर्चा हो

फ़ुटपाथ के सिरहाने सोने पर चर्चा हो

शिक्षा के टूटे खिलौने पर चर्चा हो

सीमा पर अटके जवान पर चर्चा हो
पेड़ों से लटके किसान पर चर्चा हो

भूखे के सूखे थाल पर चर्चा हो
पाखंड के फैले जाल पर चर्चा हो

इंसानियत की गिरती लाश पर चर्चा हो
लकीरों में भटकते ‘काश’ पर चर्चा हो

न गीता, न बाइबल, न कुरआन पर चर्चा हो
ज़रूरत बस इतनी हिंदुस्तान पर चर्चा हो

प्रमाणपत्र

तुम देते हो राहत-राशि
जीवन छीनकर
राशि
जिसकी प्राप्ति के लिए
एक बेबस स्त्री
लगाएगी चक्कर
ऑफ़िस के गलियारों के

उसके रुदन, सूने माथे
वीडियो फ़ुटेज
अख़बार की सारी कतरनों को
दरकिनार कर
पलटीं जाएँगी फ़ाइलें
विधवा के पुष्टिकरण हेतु
मृत की मृत्यु की सत्यता के लिए
अब नए सिरे से
बैठेगा जाँच आयोग

फिर चलेगा धारावाहिक
मृत्यु प्रमाणपत्र
विधवा के जीवित होने का प्रमाणपत्र
विवाह प्रमाणपत्र
आश्रित होने का प्रमाणपत्र
गरीबी, लाचारी का प्रमाणपत्र
बेबस, बेसहारा
टूटे घर की मौजूदगी का प्रमाणपत्र

इन प्रमाणों को एकत्रित करने
वकीलों की जेब भरने

और अपनी जीविका चलाने के बीच
चप्पलें घिसकर
सिस्टम के तले पिसकर
घुटकर मर जाएगी वो एक दिन
स्वयं ही बेचकर सारे प्रमाण

वर्षों बाद कहीं
दलालों के मध्य बँटती हुई
लंबी यात्रा कर थकती हुई
घोषित में एक शून्य घटाती
पहुँचेगी तो अवश्य ही
राहत-राशि
और इधर खंडहर को पाकर
अधिकारी अब
राहत की साँस लेंगे।

* काश, इंसानियत का भी कोई प्रमाणपत्र बनता!

अकवि

वो लिख चुका था
अपनी पहली खिलखिलाती
ख़ुशहाल कविता
फिर उसने लिखी
सामाजिक, राजनीतिक
मुद्दों पर प्रहार करती
गंभीर कविता
यक़ायक़ निकलने लगीं
गुदगुदाती, हँसाती
चटखारेदार, मस्ती वाली
बैठी ठाली, नाकारा
निकम्मी कविता
हँसते रहे सब

बदला समय
बनी चमचमाती मुलाक़ाती
जुनूनी कविता
चहकने लगी इश्क़ में
बावली, फुदकती, इठलाती
मासूम कविता
घेरती रहीं यादें और
बरसने लगी
कविताओं पर कविता
उठे सवाल!

गिरे मुखौटे तो
निराश हो फूटी
दर्द में डूबी, चरमराती
उदास कविता
वो परोसता रहा वर्षों तक

हृदय की हर उलझन औ’
ज़ख़्म की नुमाइश करती
बेबस, लाचार, हताश
रुदाली कविता
लूटी वाहवाही!

थका, ठहरा इक दिन
फिर उसने लिखनी चाही
अपनी आख़िरी कविता
वो लिखता रहा
लिखे ही जा रहा
लिख रहा अब भी
हारकर अपने-आप से
आस-पास चुप्पी पसरी है इन दिनों!

टुकड़ा-टुकड़ा तथ्य

बुरे को बुरा बोलने के ठीक पहले
घूमता हुआ दिमाग़
करता एकालाप
ओह, सब क्या सोचेंगे
क्या कहेंगे
मेरी इमेज
'उफ़्फ़, उसका क्या?'

किसी दुर्घटनास्थल से गुज़रते समय
हमारी उपस्थिति को निरर्थक बताते हुए
शरीर के साथ ही धीरे-धीरे
सरक जाते हैं सवाल
फिर वही प्रलाप
मुझे क्या करना
कहाँ है इतना फ़ालतू समय
पुलिस का चक्कर
बेकार के पचड़े
'क्या फ़र्क़ पड़ जायेगा?'

राजनीति, अधर्म, अन्याय के विरुद्ध
बोलते समय होती घबराहट
आईना बन समाज करता वार्तालाप
कहीं कोई मार न दे
मेरा घर-परिवार
आह, उसका क्या होगा मेरे बाद?
स्वार्थी, भीरु मन बड़ी निर्दयता से
तुरंत दबोच देता, अपनी ही जुबान
इस तसल्ली के साथ
'मेरे करने से कौन-सा देश सुधर ही जाएगा'
लेकिन देखो न

कुछ न करने के बाद भी
चौंकता तुम्हारा हृदय
हर अंजानी आहट पर
कहीं कोई चोर तो नहीं
सहमते तो होगे तुम भी कभी
किसी की अस्मिता तार-तार होते देख
कहीं अगली बार कोई तुम्हारे किसी...
लगा लेते हो न गले
अपने बच्चे को सीने से चिपका
किसी और के जिगर के टुकड़े को
सरे-राह तड़पते देख
आग में झुलसते इंसान की छटपटाहट से
सुलग उठता होगा, तुम्हारा भी तन
दंगे-फ़साद में खिड़कियाँ बंद कर
याद तो तुमने भी ख़ूब किया होगा
ईश्वर का हर रूप

फिर इन भिंचती मुट्ठियों को जो खुलने नहीं देता
सुलगता है भीतर कहीं पर उबलने नहीं देता
बाँध रखा है जिसने तुम्हें सदियों से
ढोते जा रहे
ज़िंदा लाश-सी ज़िंदगी तुम्हारी
सच्चाई से मुँह फेरकर
गर हर रोज़ मरने से बेहतर
कुछ रोज़ का जीना लगे
तो बस आज, अभी
ठीक इसी वक़्त
निकाल फेंको इस शब्द को
अपने दिल, दिमाग़ और शब्दकोष से भी
ये डर जो मार रहा
रोज़-रोज़ तुम्हें, मुझे
इस समाज को
खदेड़कर रख दो इसे
अपने समाज के ही बाहर
और दे दो देश-निकाला
डरने दो इस डर को
अपने ही एकांत से
हाँ, अब तुम जियो

कुछ पल चैन से
हँसो कि तुम आज़ाद हो
अपनी ही बनाई बेड़ियों से।

अजी, थोड़ा तो जी लीजिए

किसमें, कितना दोष है
छोड़ ये हिसाब अब
किसके काम आ सके
बस इसपे ग़ौर कीजिए
अजी, थोड़ा तो....

ज़िंदगी के प्याले में
ग़म और ख़ुशी संग हैं
चुस्कियों के साथ फिर
दोनों का मज़ा लीजिए
अजी, थोड़ा तो...

दिल का क्या, ये ग़ैर है
इसका न मलाल कर
जो टूटने का दर्द है
बिखरों को जोड़ा कीजिए
अजी, थोड़ा तो...

जो ज़ख़्म पे मरहम रखे
उसकी आस छोड़कर
वक़्त के हिसाब से
चेहरे को सजा लीजिए
अजी, थोड़ा तो...

मेला कहो सर्कस इसे
ये खेल दौड़-भाग का
अंत, फिर शुरुआत है
खैर, जाने भी दीजिए
अजी, थोड़ा तो जी लीजिए।

अभी जारी है

संघर्ष सिर्फ़ वही नहीं
जो प्रत्यक्ष और दृष्टिमान है
इक लड़ाई भीतर भी
चला करती है कहीं
अब निःसंकोच हो बोलती वो
हर विषय पर
युद्धरत-सी, इस समाज और
उसके व्यर्थ के रीति-रिवाजों से
करती वाद-विवाद, तर्क-कुतर्क
सहती ताने, अपमान के असंख्य तीर
कुछ व्यंग्यात्मक नज़रें भी
पर अब न रही वो ‘बेचारी’ है

सबको दिखती ये
‘अस्तित्व की खोज में, अचानक
प्रारंभ हुई, एक बेतुकी सोच’
करते हतोत्साहित
आत्मा को चीरने की हद तक
जीती नहीं है वो कभी
इस पुरुष प्रधान समाज में
हर रिश्ते ने की मौत उसकी
हर हाल में वो ही हारी है
कर्त्तव्यों को निभाना
साक्षात् परम धर्म उसका
अंततः ‘भारतीय नारी’ है

तो आओ, बाँधो ज़ंजीरों से
कर दो छलनी
शब्दों के अचूक प्रहार से
उड़ाओ मखौल उसके हर

कमज़ोर विश्वास का
करो लहूलुहान उसे,
घृणित तीखे उपहास से
जी न भरे तो, बिछा दो राहों में
अनगिनत ज़हरीले काँटे भी
पर जीतेगी वही
अब हर हाल में, देखना सभी
न ठहरी, न ठहरेगी, कहीं भी कभी
जान गई अपने होने का मतलब

और इसीलिए
असत्य पर सत्य का
भ्रम पर यथार्थ का
द्वंद्व पर अपनत्व का
घृणा पर प्रेम का
निराशा पर आशा का
पराजय पर विजय का
पीड़ा पर उल्लास का
दर्द पर मुस्कान का
हताशा पर उत्साह का
आर्तनाद पर आह्लाद का
संशय पर विश्वास का
मायूसी पर उम्मीद का
अहंकार पर स्वाभिमान का
कर्त्तव्यों की गठरी संग
अधिकारों की दौड़ का
इस संवेदनहीन दुनिया में
मानवता की खोज का
हर अधूरा संघर्ष...
...अभी जारी है।